त्रिकदर्शनात्मकं

शिव सूत्रम्

एवं

स्पन्द–कारिका

(ऋज्वर्थबोधिनी (संस्कृत) वृत्ति एवं सरलार्थ बोधिनी हिन्दी टीका सहित)



प्रकाशक

श्री पीताम्बरापीठ संस्कृत परिषद्

दतिय (म० प्र०) – 475661

त्रिकदर्शनात्मकं

शिव-सूत्रम्

एवं

स्पन्द-कारिका

(हिन्दी-टीका सहित)

●

राष्ट्रगुरु १००८ श्री पीताम्बरा पीठस्थ
श्री स्वामि विरचित

●

ऋज्वर्थ बोधिनी (संस्कृत) वृत्ति सहितम्

तथा

सरलार्थ बोधिनी (हिन्दी) टीका सहित

●

प्रकाशक
श्री पीताम्बरापीठ संस्कृत परिषद्
दतिया (म० प्र०)

प्रकाशक
श्री पीताम्बरापीठ संस्कृत परिषद्
दतिया (म० प्र०)

आश्विन नवरात्र २०५४ वि० सं०

मूल्य ८ रुपये

प्रतियाँ—२०००

मुद्रक
श. श. श्रीवास्तव
नारायण प्रिन्टर्स
खजांची रोड, पटना-८०००४
फोन : (०६१२) ६५७७०४



ब्रह्मलीन
श्रीपीताम्बरापीठाधीश्वर राष्ट्रगुरु परमपूज्य श्री अखण्डश्री
स्वामी जी महाराज, वनखण्डेश्वर, दतिया (म० प्र०)



प्रकाशकीय

अनन्त श्री विभूषित पूज्यपाद श्री स्वामीजी महाराज ने शैव सिद्धान्त प्रतिपादक शिव सूत्र को ऋज्वर्थ बोधिनी संस्कृत वृत्ति एवं सरलार्थ बोधिनी हिन्दी टीका सुधीजनो के हितार्थ लिखी है शिवसूत्र जिसमें शम्भवोपाय, शाक्तोपाय आणवोपाय द्वारा चैतन्य आत्म-तत्व का **"भैरवोऽहं" "शिवोऽहं"** होना **"इच्छाशक्तिरुमा कुमारी"** का जो कार्य है वह सब माँ की भक्ति एवं गुरु कृपा से ही संभव है।

स्पन्द-कारिका काश्मीरी शैव दर्शन के त्रिक् सिद्धान्त पर आधारित है स्पन्द अर्थात् संवेदन जिस संविद् ज्ञान से साधन विज्ञान का अवलम्बन करके योगी **"शापानुग्रह"** में समर्थ होता है वही ज्ञानोपाय न होने पर **"पातयन्ति दुरुत्तारे, घोरे संसार-वर्त्मने"** अधोगति को प्राप्त होता है और जीवन-मरण के चक्रव्यूह में फंसा रहता है।

विज्ञसाधकों की अभिरुचि को देखते हुए इस ग्रन्थ का तृतीय संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है, इसके प्रकाशन से भगवान् शिव एवं शिवस्वरूप पूज्यपाद् स्वामीजी उपासकों की अभिवृद्धि करेंगे।

अश्विन नवरात्र
वि. स. २०५४

हरिराम साँवला
कोषाध्यक्ष
श्री पीताम्बरापीठ, दतिया (म० प्र०)

भूमिका

वैदिक दर्शनों में शैव दर्शन का विशिष्ट स्थान है। शैव दर्शन का आध्यात्मिक तत्त्व सभी दर्शनों से नातिसंक्षेप विस्तार प्रकार का है। प्रस्तुत शिव-सूत्र ग्रंथ की सरलार्थ बोधिनी भाषा टीका में सूत्रों में गुप्त रहस्य को स्थूलतया सर्व श्रद्धालुओं के हित की दृष्टि से प्रकाशित किया जा रहा है। शिव-सूत्रों को शैव दर्शन की भूमि "कश्मीर" देश में होने से कश्मीर-सूत्र के नाम से भी जाना जाता है। कश्मीर देश में "शंकरोपल" नामक शिलाखण्ड के आख्यान के आधार पर शिव-सूत्र के रचयिता आचार्य वसुगुप्त को श्रीशंकर भगवान् ने उपदेश किया, वसुगुप्त से कल्लटाचार्य ने तथा कल्लट से भास्कराचार्य ने इस गूढ़ दार्शनिक तत्त्व को ज्ञात किया था।

शिव-सूत्रों में **शाम्भव, शाक्त** एवं **आणव** तीन प्रकरण हैं। शैव-दर्शन का सम्पूर्ण रहस्य इन तीनों प्रकरणों में लिपिबद्ध है इसलिए इन्हें "त्रिक-दर्शन" भी कहा जाता है। प्रथम शांभव प्रकरण में शिव रूप अलौकिक समाधि सुख योगियों द्वारा अनुभव किया गया है, अतः योग की परावस्था इसमें वर्णित है। चंचल मन की बाह्य वृत्तियों को मंत्रादि उपासना से संयमित कर पराशक्ति भगवती के अनुग्रह से योगी पराद्वैत अनुभव करता है, वह द्वितीय शाक्त प्रकरण में वर्णित किया गया है। तृतीय आणव प्रकरण में आत्मा, माया आदि विषयों का निरूपण किया गया है तथा इसके अनुसार योगी मोह का त्यागकर क्रमशः जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्था-त्रय को पारकर पूर्णता (चैतन्य साक्षात्कार) को प्राप्त कर लेता है, यह उपन्यस्त किया गया है। शिव-सूत्रों में वर्णित योगतत्त्व अन्य सभी योग संप्रदायों से विचित्र एवं सिद्धिदायक है।

शिव-सूत्र जैसे शैव-दर्शन के अति गूढ़ तत्त्व-ग्रंथ पर तत्त्ववेत्ता आचार्य भास्कर ने "वार्तिक" टीका तथा श्री क्षेमराज ने "विमर्शिनी" टीका लिखी है। किन्तु उक्त दोनों ही टीकाएँ साधारण बुद्धिजनों के लिए दुर्गम हैं। अतः पूज्यवाद राष्ट्रगुरु श्री १००८ श्री पीताम्बरा पीठस्थ स्वामीजी महाराज ने "ऋज्वर्थबोधिनी" टीका साधारण बुद्धिजनों के ज्ञानार्थ प्रस्तुत की। पूज्यपाद की इसी टीका को आधार मानकर आधुनिक श्रद्धालुओं के ज्ञानार्थ प्रस्तुत सरलार्थ बोधिनी हिन्दी टीका माँ पीताम्बर की कृपा से पूर्ण की जा सकी है।

दर्शन जैसे दुर्बोध एवं आत्मचैतन्य ख्यापक विषय की वस्तु विषय बोधक टीका करना यथार्थतः अत्यन्त दुष्कर कार्य है तथापि माँ पीताम्बर द्वारा प्रदत्त प्रेरणा से स्वल्पबुद्धि कृत प्रयास मात्र किया जा सका है। भक्त एवं विचारक हंसोदय विधान से इसका सार ग्रहण करेंगे, ऐसी प्रार्थना है।

प्रस्तुत शिव-सूत्र सरलार्थ बोधिनीं हिन्दी टीका तथा इसी ग्रंथ में संलग्न शाक्तर्शन का अनुपम ग्रंथ 'स्पन्द-कारिका' की हिन्दी टीका भी प्रस्तुत की गई है। यह ग्रन्थ काश्मीर के 'शैवदर्शन' के त्रिक सिद्धान्त के अनुसार है।

वेणीमाधव अश्विनीकुमार शास्त्री
एवं
श्री गुरु पूर्णिमा २०३१ **किशोरी शरण चौदा**

शिव-सूत्रम्

('ऋज्वर्थ बोधिनी' संस्कृत-वृत्ति एवं 'सरलार्थ-बोधिनी' हिन्दी-वृत्ति-सहित)

प्रथम उन्मेष—शाम्भवोपायः

शिव सूत्र प्रतिपाद्यस्य परम लक्ष्यस्याधार भूतं चेतन स्वरूप परमात्म तत्त्वं तदाह-चैतन्यमिति।

शिव-सूत्र से प्रतिपाद्य परम लक्ष्य का आधार भूत चेतन स्वरूप जो परमात्मा है, उसे पहले सूत्र से बताते हैं।

१. चैतन्यमात्मा

चेतयते इति चेतनस्तस्य भावश्चैतन्ममात्मनः स्वरूपम्। शरीर-प्राण-मन-इन्द्रियाणां सङ्घातः, पृथक्-पृथग् वा आत्मा भवितुं नार्हति, प्रत्युत यस्मिन्नेतानि प्रतिभान्ति, स आत्मा एतेभ्यः परश्चेतन स्वरूपोऽस्ति ॥१॥

यदि आत्मा चेतनस्तर्हि कथं बन्ध कोटौ निक्षिप्त इत्यत आह—ज्ञानमिति।

चैतन्य मात्र जो चेतना प्रदान करता है, उसे ही चेतन कहते हैं। चेतन का भाव चैतन्य है और वही आत्मा का स्वरूप है। शरीर, प्राण, मन, इन्द्रियों का समुदाय या पृथक्-पृथक् ये सब आत्मा नहीं हो सकते, अपितु जिसमें इन सबका प्रतिभास होता है, अर्थात् जिसमें ये सब भासते हैं, वही आत्मा है, जो इन सबको प्रकाशित करता है तथा इन सबसे परे चेतन स्वरूप है।

यदि आत्मा नित्य चेतन स्वरूप है, तो बन्ध-कोटि में क्यों आया ? इसलिए कहते हैं—

२. ज्ञानं बन्धः

मनसा इन्द्रियाणि संयुज्य यानि वृत्ति रूपाणि ज्ञानानि भावयन्ति जनयन्ति तान्यसौ चेतनः अनुभवति तदेव ज्ञानं 'बन्ध' पद वाच्यं भवति। केचिदकार प्रश्लेषेणा-ज्ञानमिति कथयन्ति ॥२॥

तस्य त्रैविध्यमाह—योनि वर्ग इति।

मन के साथ इन्द्रियों का संयोग होकर जो वृत्ति रूप ज्ञान होते हैं उनको यह आत्मा अनुभव करता है। यह ज्ञान ही 'बन्ध' पद से कहा जाता है। कोई 'आत्मा' शब्द के आगे अकार का प्रश्लेष निकाल कर 'अज्ञान' को 'बन्ध' कहते हैं।

यह 'बन्ध' तीन प्रकार का है, जिसे आगे के सूत्र से बताते हैं—

३. योनिवर्ग : कला शरीरम्।

एतेषु ज्ञानेषु निवृत्तेषु सत्सु बन्धोऽपि निर्वते। स त्रिविधः। योनिः मायीय मलमावरणात्मकमाणव मलमिति निजैश्वर्य निरोधंक कथयन्ति, पञ्च भूतविस्तार भोग प्रदातारः संस्काराः कला, पुण्य पापात्मकानि शरीराणि च। इमान्येव बन्धनानि ज्ञानमिति एषां वर्गः 'समुदाय' पदेनोच्यते॥३॥

तस्य ज्ञानस्याधिष्टानमाह—ज्ञानाधिष्टामिति।

योनि-वर्ग, कला, शरीर—ये तीन मल हैं। इस ज्ञानसमूह से निवृत होने पर 'बन्ध' भी निवृत्त हो जाता है। यह 'बन्ध' तीन प्रकार का है। १. 'योनि' अर्थात् मायीय मल, २. आवरणात्मक आणव मल, जो निज स्वरूप का निरोध करता है। ३. पञ्च भूत-विस्तार-भोग को देनेवाले संस्कार ही 'कला' कहे जाते हैं—यह तीसरा पुण्य-पापात्मक मल है जिससे शरीर होते हैं। यही बन्धन हैं, जिन्हें ज्ञान कहते हैं। इनका समुदाय ही यहाँ 'वर्ग' पद से कहा गया है।

४. ज्ञानाधिष्ठानं मातृका

एषां पूर्वोक्तानां त्रिविधानां ज्ञानामधिष्ठानमाधारः 'मातृका'—अकारमारभ्य क्षकार पर्यन्ता शब्द मयी वर्ण माला शब्द ब्रह्मेत्युच्यते। उक्तं च "न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। अनुबिद्धमिव ज्ञानं 'सर्वं-शब्देन भासते॥" (वा. प.)। अनयैवान्तरनुसन्धान राहित्येन बहिर्मुखानि ज्ञानानि जायन्ते, स एव 'बन्ध': ॥४॥

बन्धनिवृत्त्युपायमाम—उद्यम इति।

ज्ञान का आधार 'वर्ण-माला' है। **"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। अनुबिद्धमिव ज्ञानं सर्व-शब्देन भासते॥"** (वाक्-पदी)—इस लोग में ऐसा कुछ भी नहीं है, जो शब्द से अनुगत न हो। शब्द से बिद्ध यह सारा विश्व शब्द से ही प्रकाशित है। इसी के द्वारा अन्तरानुसन्धान—रहित जो बहिर्मुख ज्ञान है, उसे ही 'बन्ध' कहते हैं।

'बन्ध' की निवृत्ति का उपाय कहते हैं—

५. उद्यमो भैरवः

उक्त बन्ध निवृत्त्यर्थं पूर्णाहन्ताया अहमेव सर्वमिति रूपायाः समुदयो विकल्प सामस्त्य नाशकः अन्तः स्पन्द रूपो भैरव इत्युच्यते; 'भैरवोऽहम्, शिवोऽहम्'' इति प्रथनात् ॥५॥

तत्फलमाह—शक्ति चक्र इति।

उद्यम अर्थात् प्रयत्न ही भैरव है। उक्त 'बन्ध' की निवृत्ति के लिए जो पूर्णाहन्ताभाव है, अर्थात् 'मैं ही सर्व-रूप हूँ—ऐसा जिसका स्वरूप है। यही विकल्पों का नाशक तथा अन्तः स्पन्द-रूप होने से इसे 'भैरव' कहते हैं। 'भैरवोऽहं, शिवोऽहं'।

आगे इसके फल को कहते हैं—

६. शक्ति चक्र सन्धाने विश्व संहार :

उक्त विशेषण विशिष्टे भैरवे एका महती शक्ति भैरवी तस्याः प्रसृत रूपानुसन्धानेन स्व सम्विद्-रू पाग्नौ विश्वः संह्रतिमुपयाति ॥६॥

अनुभूति दाढ्र्यमाह—जाग्रद् इति।

उक्त विशेषण-विशिष्ट भैरव में एक महान् शक्ति भैरवी है। विस्तृत रूप के अनुसन्धान से स्व सम्विद्-रूप अग्नि में विश्व का संसार अर्थात् लय हो जाता है।

अनुभूति की दृढ़ता पर कहते हैं—

७. जाग्रत्-स्वप्न सुषुप्ति भेदे तुर्या भोग सम्भवः

तस्य योगिन ईदृशी अनुभूतिर्जागर्ति। तस्य जाग्रति स्वप्ने सुषुप्तौ तथा आसामवस्थानां भेदेऽपि तुर्या भोगः अर्थात् पराऽऽनन्दानुभूतिः सञ्जायते। भेदेऽपि अभेद प्रत्ययो निराबाधः प्रवर्तते इत्यर्थः ॥७॥

जाग्रत्-स्वप्न और सुषुप्ति के भेद होने पर भी तुर्या भोग अर्थात् यानी परमानन्द की अनुभूति होती है। भेद में भी अभेद-ज्ञान नित्य या निरन्तर ही रहता है या वर्तता है।

८. ज्ञानं जाग्रत्

इन्द्रिया-विषय-सन्निकर्षोद्भूतं जाग्रदित्युच्यते ॥८॥

इन्द्रिय और विषय के संयोग से होनेवाले ज्ञान को 'जाग्रत्' कहते हैं।

९. स्वप्नों विकल्प :

मनो मात्र जन्यासाधारणार्थ विषय विकल्पः 'स्वप्न'। स्वात्मनि स्वेनैव विकल्पनं स्वप्नो वेति ॥९॥

मन मात्र से उत्पन्न होनेवाले असाधारण विषय-विकल्प ही स्वप्न हैं अर्थात् अपनी आत्मा में अपने आप से ही उत्पन्न विकल्प 'स्वप्न' हैं।

१०. अविवेको माया सौषुप्तम्

स्वात्मानं विस्मृत्य यः अविवेकोदयो मायात्मकः साऽवस्था 'सुषुप्तिः'। अविवेकः विवेचनाभावः—अज्ञानम्, एतदेव माया मयं सौषुप्तम् इति सूत्रार्थः ॥१०॥

जिसमें अपना ही बोध न हो, ऐसा मायात्मक अविवेक अर्थात् मोह ही 'सुषुप्ति' है। विवेचना का अभाव ही अविवेक है।

११. त्रितय भोक्ता वीरेशः

एषु त्रिषु यत्-तुरीयानन्दमभेदात्मकम् आस्वादयदि स वीरेशः। यतो वीराणामपि भेद बन्धने प्रक्षेप्त्री सा शक्तिर्बाह्याभ्यन्तरे प्रसरण शीलानामिन्द्रियाणां च स अधीश्वरः। उक्तं च श्रीगौड़पादे :—

त्रिषुधामसु यद्व भोग्यं, भोक्ता यश्च प्रकीर्तितः।
विद्यात्तदुभयं वस्तु, सम्भुञ्जानो न लिप्यते। इति ॥११॥

इन तीनों अवस्थाओं में जो अभेदात्मक तुरीयानन्द का आस्वादन करता है, वही 'वीरेश' है। भेद-बन्धन में डालनेवाली जो बाह्य और अन्तर प्रसरण करनेवाली इन्द्रियाँ हैं, उनका वह वीर अधीश्वर होता है। श्रीगौड़पद में कहा है कि 'जाग्रदादि तीनों धामों में जो भोग्य है तथा जो इनका भोक्ता है, इनको जानेवाला इनको भोगता हुआ भी लिप्त नहीं होता।

१२. विस्मयो योग भूमिका

आनन्दं प्राप्त मनुष्यो यथा विस्मयते तथा निरन्तरं योगिनोऽपि अद्भुत परमानन्दस्यानुभूतिः सञ्जायते। इयं योग भूमिः। सम्यगात्मनि युञ्जन् एवं सम्पद्यते। अलौकिकोऽयं विषयः पर तत्त्वैक्याध्यारोह विश्रान्ति रूपः ॥१२॥

योग भूमि आश्चर्यरूप है। आनन्द प्राप्त करके जैसे मनुष्य विस्मय अथवा एक विलक्षण अवस्था को प्राप्त होता है, इसी प्रकार की योगियों को निरन्तर परमानन्द की अनुभूति होती है। यह योग भूमि आत्मा से सम्यक् योग प्राप्त करने

पर प्राप्त होती है। पर तत्त्व में एकाकाररूप आरोह से विश्रान्तिरूप यह अलौकिक विषय है।

१३. इच्छा शक्तिरुमा कुमारी

उक्त पूर्णावस्थां प्राप्तस्य योगिनः इच्छा शक्तिः परैव पारमेश्वरी स्वातन्त्र्यरूपा विश्व सर्ग संहार परा उमा कुमारीति उच्यते—"कुं मारयतीति कुमारी" अज्ञाननिवर्तिकेति यावत् ॥१३॥

उपर्युक्त पूर्णावस्था-प्राप्त योगी की इच्छा शक्ति परा परमेश्वरी विश्व की सृष्टि, स्थिति तथा संहार करनेवाली उमा कुमारी कही जाती है। 'कुं' अर्थात् अज्ञान को मारनेवाली होने से उसे 'कुमारी' कहते हैं, क्योंकि उसका स्वरूप अज्ञान निवर्तक है।

१४. दृश्य शरीरम्

तद्युक्तस्य योगिनो निखिलं प्रपञ्च जातं दृश्यं शरीरं भवति ॥१४॥

इस इच्छा शक्ति से युक्त हो जाने पर योगी का निखिल प्रपञ्चयुक्त दीखनेवाली शरीर बन जाता है।

१५. हृदय चित्त सङ्घट्टाद् दृश्य स्वाप दर्शनम्

विश्वस्य महदायतनं तस्य योगिनो हृदयं भवति। चित्त सङ्घट्टनेन नाना दृश्याविर्भावः स्वप्न वत् प्रतीयते ॥१५॥

इससे विश्व का महान् आयतन उसका हृदय बन जाता है तथा इसमें चित्त के सङ्घट्टन (संयोग) से जो नाना दृश्य होते हैं, वे उसे स्वप्न वत् दीखते हैं।

१६. शुद्ध तत्त्वानुसन्धानाद्वा अपशु शक्तिः

अस्मिन् प्रपञ्चे शुद्ध तत्त्वस्य शिवस्यानुसन्धानाद् भावना करणाद् अपशु शक्तिः पशुत्व निवृत्ति। जगत्पतिः सदा शिवो भवति। "शुद्ध तत्त्वानुसन्धानाद्" इत्येव केषाञ्चिन्मते पाठः ॥१६॥

इसी प्रकार प्रपञ्च में शुद्ध तत्त्व की अर्थाता शिवात्मक भावना करने से भी बन्धनात्मक पशु शक्ति नष्ट हो जाती है तथा योगी सदा शिव के समान जगत् पति बन जाता है।

१७. वितर्क आत्म ज्ञानम्

अहं विश्वात्मा शिवोऽहमिति मन्यमानो योगी आत्म ज्ञान वान् भवति। अहं विश्वात्मेति वितर्क उच्यते चिन्तनमिति च व्यपदिश्यते॥१७॥

'मैं विश्वात्मा शिव ही हूँ' ऐसा माननेवाला योगी आत्म ज्ञान वान् होता है। 'मैं विश्वात्मा हूँ' इसी का नाम वितर्क है।

१८. लोकानन्दः समाधि सुखम्

अहमेव द्रष्टा, दृश्यं, दर्शनं चास्मि अहमेवेदं सर्वमित्यनुभवन् लोकानन्दे निमज्जति समाधि सुखं प्राप्नोति॥१८॥

इस प्रकार योगी अपने को ही दृश्य दर्शन और द्रष्टा-रूप में देखता है। 'मैं ही सर्वरूप हूँ' इस प्रकार से लोकानन्द में ही समाधि-सुख को प्राप्त होता है। ग्राह्य और ग्राहक की सम्वित्ति तो सामान्यतः सभी प्राणियों को होती है, परन्तु योगी इस सम्बन्ध में सावधानता पूर्वक आत्म भाव रखता है।

१९. शक्ति सन्धाने शरीरोत्पत्तिः

उमा कुमारीति या शक्तिः पूर्वोक्ता, तदनुसन्धानेन तन्मयत्वं यदा गच्छति, योगी तदा तया स्वेच्छया शरीरमुत्पादयति॥१९॥

उपर्युक्त उमा 'कुमारी' इच्छा शक्ति के अनुसन्धान से योगी की भावना तन्मयी हो जाती है, तो वह उसके द्वारा अपनी इच्छानुसार शरीर धारण कर सकता है।

२०. भूत सन्धान भूत पृथक्त्व भूत संङ्घट्टाः

एवं भूतो योगी अनुसन्धानेन पञ्च भूतेष्वात्म भावं गच्छति, येन भूतान्यावरण रहितानि भवन्ति। भूत पृथक्त्वेन नाना व्याधीन् क्लेशांश्च शमयति विश्वसङ्घट्टनेन यौगिक सामर्थ्येन नूतनं विश्वं निर्माति॥२०॥

ऐसा योगी भूत-सन्धान अर्थात् पञ्च भूतों में आत्म भाव कर लेता है, जिसमे उसके ये आवरण-रूप नहीं करते। भूतों के पृथकत्व से नाना प्रकार की व्याधियों और क्लेशों को क्षण भर में शान्त करता हुआ योगी नवीन विश्व का निर्माण कर सकता है।

२१. शुद्ध विद्योदयाच्चक्रेशत्व सिद्धिः

परिमित-सिद्धि विहाय योगी परां सिद्धिमिच्छति, तदा अखिलं विश्वमहमेव इत्याकार बुद्धिः शुद्धा निर्मला विद्या उदेति। तया चक्रेशत्व सिद्धिः। महैश्वर्यं प्राप्नोति। "ईश्वरो बहिरुन्मेषो निमेषोऽन्तः सदा शिवः। सामानाधिकरण्यच सद्-विद्याहमिदं धियोः"॥ इति॥ इयमेव 'शुद्ध विद्या' ॥२१॥

जब परिमित सिद्धि की इच्छा को त्याग कर योगी विश्वात्मक रूप 'परा में सिद्धि' की इच्छा करता है, तो 'अखिल विश्व में ही हूँ'–इस प्रकार की निर्मला विद्या उदय होकर उसे चक्रेश्वरत्व की प्राप्ति होती है। **'ईश्वरो बहिरुन्मेषो निमेषोऽन्तः सदा शिवः'** अर्थात 'यह सब मैं ही हूँ'–इस प्रकार की बुद्धि ही सद्विद्या है।

२२. महा ह्रदानुसन्धानान्मन्त्र वीर्यानुभवः

महायोगी विश्वात्मिकामवस्थामुत्तीर्य स्वात्मन्येव रमते, तदा देश कालादिभ्योऽपरिच्छिन्नो जगद् व्यापी यो महा ह्रदः—स्वच्छत्वादावरण रहित्वाद् गम्भीरत्वाच्च 'महा ह्रद' इति संज्ञा, तदनुसन्धानेन पूर्णाहन्ताया वीर्यमनुभवति ॥२॥

जय योगी इस विश्वात्मक अवस्था से उत्तीर्ण होकर स्वात्माराम हो जाता है, तब देश-कालादि से अपरिछिन्न जगद् व्यापी 'महा ह्रद्' के अनुसन्धान से पूर्णाहन्ता-रूप मन्त्र-वीर्य का उसे अनुभव होता है। स्वच्छ आवरण-रहित महागम्भीर ही 'महाह्रद् है, उसे अनुसन्धान से पूर्णाहन्ता-रूप वीर्य की अनुभूति होती है।

॥ इति शाम्भवोपायः प्रथमोन्मेषः समाप्त ॥

द्वितीय उन्मेष—शाक्तोपायः

तीव्र शक्ति पातवतां साधकानां कृते पूर्वोन्मेषोक्त तत्त्वोपदेशः। मध्यमाधिकारिणोऽपि तत्त्व ज्ञान वन्तः स्युरिति द्वितीयोन्मेषस्यारम्भः तदेवाह—चित्तमिति।

तीव्र शक्ति पात का आघात-प्राप्त करनेवाले साधकों के लिए पूर्व उन्मेष में कथित तत्त्व का उपदेश है। अब मध्यम अधिकारी के लिए तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति का मार्ग बताते हैं। इसका पहला सूत्र–

१. चित्तं मन्त्रः

शक्तिः मन्त्रस्वरूपा अत एवेदानीं मन्त्रं कथयति—येनात्म तत्त्वं चिन्तयते, तदेव चित्तम, तदेव स्व स्वरूप मनन हेतुत्वान्मन्त्र इत्युच्यते। उक्तच—

"स्वात्मानुभव धर्मित्वात् स 'मन्त्र' इति गीयते।" ॥१॥

तत्कथं सिद्ध्येदित्याह—प्रयत्न इति।

शक्ति मन्त्र-स्वरूपा है—यह पहले उन्मेष में बताया गया है। अब मन्त्र का स्वरूप बतलाते हैं। जिससे आत्म तत्त्व का चिन्तन होता है, उसे 'चित्त' कहते हैं और वही स्व स्वरूप के मनन के कारण 'मन्त्र' कहलाता है। यह मन्त्र स्वात्मानुभवरूप होता है।

२. प्रयत्नः साधकः

मन्त्र साधने योऽन्तः, स साधकः पुनः पुनः बाह्यवृत्तीनामुपसंहरणं शिव तत्त्वे च संयोजनमेव तासां प्रयत्न पदेनोच्यते ॥२॥

इस मन्त्र के अनुसन्धान में अन्तर प्रयत्न ही 'साधक' है। बार-बार बाह्य वृत्ति का शिव तत्त्व में उपसंहार करने का नाम ही 'प्रयत्न' है।

३. विद्या शरीर सत्ता मन्त्ररहस्यम्

परमात्माऽद्वैत सम्वेदन रूपाया विद्यायाः शरीरमखिल शब्द राशिः, तस्याल्पाहन्ता पूर्णाहन्ता च सत्ता तत्स्फूरणमेव मन्त्र गुप्तार्थस्योत्पादकमिति रहस्यम् ॥३॥

परम अद्वैत सम्वेदनरूपी-विद्या का शरीर अखिल शब्द-राशि है; उसकी अल्पाहन्ता और पूर्णाहन्ता सत्ता है। इसका स्फुरण ही मन्त्र की गुप्तार्थता का उत्पादक है—यह रहस्य है।

४. गर्भे चित्त विकासोऽविशिष्ट विद्या स्वप्नः

पूर्वोक्तं मन्त्र वीर्य महेश्वरेच्छया योगी अनुभवितुं शक्नोति। गर्भे महा मायायां शक्त्यां चित्तं विकसति सा अशुद्धा विद्या, सा स्वप्न स्वरूपिणी विकल्प प्रत्ययात्मिका भवति ॥४॥

महा माया शक्ति के गर्भ में जो चित्त का विकास होता है, वह 'अशुद्ध विद्या' है। वह स्वप्नरूप अर्थात् विकल्प-प्रत्ययात्मक है। उपर्युक्त प्रकार का मन्त्र-वीर्य, जिसका ऊपर 'महा हृद' के अनुसन्धान के रूप में वर्णन हो चुका है, महेश्वर की इच्छा से ही हृदयङ्गम हो सकता है।

५. विद्या समुत्थाने स्वाभाविके खेचरी शिवावस्था

शिवेच्छया परमात्माऽद्वैत सम्वेदन रूपं स्वाभाविक सम्वेदन समुत्थानं भवति। पूर्णानन्दमुच्छूवसितं कुर्वती मुद्रा खेचरी शिवावस्था भवति। खे गगने चरतीति खेचरी, बोध-रूप गगने चरण शीला अभि व्यज्यते। मुदं हर्ष रातीति मुद्रा। इयं विश्वोत्तीर्णा योगिभिरनुभूयते॥५॥

तत्कथमुपलभ्यते अत आह—गुरुरिति।

शिव की इच्छा से परमाद्वैत-सम्वेदनरूप स्वाभाविक सम्वेदन का समुत्थान होता है। वह समपूर्ण स्वानन्द को उच्छवासित करनेवाली 'खेचरी'—मुद्रा शिवावस्था है तथा बोधरूप आकाश (खे) में विचरण करने के कारण, इसे 'खेचरी' कहते हैं। यह विश्वोत्तीर्ण-मुद्रा योगी को सम्यक् रूप में अनुभूत होती है। मोद को देनेवाली अवस्था को 'मुद्रा' कहते हैं।

इस प्रकार के 'मन्त्र' और 'मुद्रा' की प्राप्ति के लिए जो उपदेश करता है, वही 'गुरु' होता है—

६. गुरुरुपायः

मन्त्र मुद्रयोः प्राप्त्यर्थं य उपदिशति, स गुरुरेव उपायः। तेनैव शाम्भवी शक्तिरनुगृह्णाति॥६॥

ईश्वरानुग्रहात्मिका 'परा-शक्ति' ही गुरु है अर्थात् शिवस्वरूप ही 'गुरु' होता है।

गुरु के द्वारा ही मातृका-चक्र का ज्ञान होता है—

७. मातृका चक्र सम्बोधः

ईश्वरानुग्रहात्मिकायाः परा-शक्तेः प्राप्त्युपायो गुरुः। गुरु कृपातः मातृकाचक्रस्य सम्बोधः सम्यग् ज्ञानं भवति। वाच्य वाचकात्मकस्य विश्वस्य प्रपञ्चयित्री मन्त्राणां मुख्यं कारणं मातृकैव निश्चिता॥७॥

ईश्वरानुग्रहात्मिका परा-शक्ति की प्राप्ति का उपंया गुरु है। गुरु की कृपा से ही 'मातृका-चक्र' का सम्यक् ज्ञान होता है। वाच्य वाचकात्मक विश्व का सृजन करनेवाले मन्त्रों का भी मुख्य कारण निश्चय पूर्वक मातृका ही है।

मातृका के ज्ञान से क्या होता है, वह बताते हैं—

८. शरीरं हविः

एवमनुगृहीतस्य योगिनः स्थूल सूक्ष्मादि शरीराणि चिदग्नौ हविर्भवन्ति॥८॥

इस प्रकार के अनुग्रहीत योगी के स्थूल और सूक्ष्म शरीर चिदग्नि का आहुति बन जाते हैं।

९. ज्ञानमन्नम्

तदा बोधस्योर्ध्व प्रकाशः प्रज्वलितो भवति, तेन योगिनस्त्रिविध पूर्वोक्तं ज्ञानं भवति योगाग्निना दग्धम् ॥९॥

तब बोध का ऊर्ध्व-प्रकाश प्रज्चलित हो उठता है और योगी के पूर्वोक्त तीन प्रकार के ज्ञान-रूप बन्धनं 'अन्न' अर्थात् अग्नि के भक्ष हो जाते हैं अर्थात् योगाग्नि में भस्म हो जाते हैं।

आगे के अन्तिम सूत्र से 'शाक्तोपाय' का उपसंहार किया जाता है–

१०. विद्या संहारे तदुत्थ स्वप्न दर्शनम्

यदा परमाद्वैतानुभव रूपाया विद्याया अनुत्थानं भवति तदा भेद निष्ठस्य स्वप्नस्य दर्शनं भवति। अत एव योगी विद्यायां सर्वदाऽवहितो भवति ॥१०॥

जब तक परमाद्वैतानुभवरूप-विद्या का उदय नहीं होता, तभी तक भेदनिष्ठ स्वप्न अर्थात् विकल्प का दर्शन होता है। इसलिए योगी विद्या के अवधान अर्थात् विचार में ही सदा मग्न रहता है।

॥ इति शाक्तोपायो द्वितीयोन्मेषः समाप्तः ॥

तृतीय उन्मेष–आणवोपायः

उक्त द्वयोन्मेषाभ्यां शिव शक्ति सम्बन्धिनी विवेचना उपस्थापिता। इदानीमनात्मन्यात्म बुद्धिरनात्मनि चात्म बुद्धिः कथमुत्पद्यते, इत्यनयोः प्रवर्तकस्याणुस्वरूपस्यात्मनो विवेचना प्रस्तूयते–आत्मेत्यादिना।

उपर्युक्त दो उन्मेषों में शिव और शक्ति-सम्बन्धी कुछ विवेचना हुई। अब 'आत्मा' में अनात्मा (देह, बुद्धि आदि) तथा 'अनात्मा' में आत्मा का भान किस प्रकार उत्पन्न होता है–इन दोनों के प्रवर्तक अणु स्वरूप 'आत्मा' का विवेचन किया जाता है। इसका पहला सूत्र है–

१. आत्मा चित्तम्

विश्व स्वभाव भूत आत्मैव बुद्धिक्रियाणां संकुचित रूपैश्चित्तं भवति ॥१॥

अणु रूपस्यात्मनः कथं यातायात ? इत्यत आह–ज्ञानमिति।

अपनी स्वतन्त्र चित्त-शक्ति से मोहित होकर विश्व-स्वभाव-भूत आत्मा ही बुद्धि की क्रिया के संकुचित रूप से 'चित्त' हो जाता है। अणुरूप आत्मा का स्वयं यातायात कैसे होता है, इस सम्बन्ध में आगामी सूत्र लिखते हैं।

अणु रूप आत्मा किस प्रकार आवागमन करता है–

२. ज्ञानं बन्धः

संकुचित स्वरूपे आत्मनो भेदाभास रूपं यज्ज्ञानं तदेव बन्धनं भवति। ''सत्त्वस्थो राजसस्थश्च तमःस्थो गुण वेदकः। एवं पर्यटते देही स्थानात् स्थानान्तरं व्रजेत्''। इति ॥२॥

आत्मा के स्वरूप के संङ्कोच में भेदाभास-रूप जो 'ज्ञान' होता है, वही 'बन्धन' होता हैं। सत्त्व, रज एवं तम में स्थित तीनों गुणों का वेत्ता इस प्रकार भ्रमण करता हुआ देही एक स्थान से दूसरे स्थान को जाता है।

'बन्धन' के कारण को समझाते हुए कहते हैं–

३. कलादीनां तत्त्वानाम् अविवेको माया

किञ्चित् कर्तृत्वादि रूप कलादि क्षित्यन्तानां तत्त्वानां कञ्चुक पुर्यष्टक स्थूलदेहत्वेनावस्थितानां योऽविवेकः विवेचनाऽभावः, सा 'मामा'। तत्त्वाज्ञान रूपः प्रपञ्चो मायेति वा ॥३॥

कञ्चुक रूप देह में स्थित कला से लेकर क्षिति-पर्यन्त तत्त्वों के विवेचन का अभाव ही 'अविवेक' है। इसी का दूसरा नाम 'माया' है, अर्थात् तत्त्वों के अज्ञानरूप प्रपञ्च को 'माया' कहते हैं।

इस 'माया' का शमन कैसे होता है, यह बताते हैं–

४. शरीरे संहार : कलानाम्

शीररे स्थूले सूक्ष्मे कारणे वा कलानां तत्त्व भागानां पृथिव्यादि शिवान्तानां तत्त्वानां योगी शरीराग्नौ भस्मी भावं नयति लय भावनया ॥४॥

अतः योगी इस 'माया' के प्रशमनार्थ पञ्च भूतात्मक स्थूल और सूक्ष्म तत्त्वों को अपने सम्विद्-शरीर-रूपी अग्नि में नष्ट अर्थात् लय कर देता है। यह सब 'लय-भावना' से होता है।

५. नाड़ी संसार-भूत जय-भूत कैवल्य-भूत पृथक्त्वानि

नाड़ीनां प्राण वाहिनीनां सुषुम्णायां, भूतानां जयो विलीनताऽऽपादनं, भूत कैवल्यं चित्तस्य प्रत्याहरणम्, भूत पृथक्त्वम् भूतानुषक्तस्यात्मनः स्वच्छताऽऽपादनम्—एतानि भावनीयानि इति शेषः ॥५॥

इस प्रकार के साधन में लगा योगी संहार-उपायों का प्रयोग करता है। प्राण-वाहिनी नाड़ियों की लय की भावना सुषुम्ना में की जाती है। भूतों की विजय उनकी 'विलीन-भावना' से होती है, इसे 'भूत-शुद्धि' भी कहते हैं। चित्त-विषयों से हरण करके आत्मा में विलीन करना 'भूत-कैवल्य' है। भूतों में आसक्त चित्त को आत्मा में अनुरक्त करके स्वच्छता-सम्पादन करना 'भूत-पृथकत्व' के 'लय' की भावना है। इस प्रकार की भावना करनी चाहिए। 'शाम्भवोपाय' और 'आणवोपाय'—दोनों के द्वारा प्राप्त होनेवाली एक ही प्रकार की सिद्धि में अन्तर यही है कि 'आणवोपाय' में सिद्धि प्रयत्न के द्वारा होती है तथा 'शाम्भवोपाय' में बिना प्रयत्न के ही होती है।

यह सब सिद्धियाँ मोह में ही डालती हैं। अतः कहते हैं—

६. मोहावरणात् सिद्धिः

शाम्भवोपायाल्लभ्य माना सिद्धिः प्रयत्न साध्या न भवति। आणवोपायतस्तु प्रयत्न साध्या अयमेव भेदः, अनेन प्रकारेण देह शुद्धिमारभ्य समाधि पर्यन्त साधनैः सिद्धि र्भवति—मोहावरणात् मोह कृतावरणात् न तु पर तत्त्व प्रकाशात् ''व्युत्थाने सिद्धयः''—इति योग—सूत्रम् ॥६॥

इस प्रकार देह-शुद्धि से लेकर समाधि पर्यन्त साधन के पश्चात् जो 'सिद्धि' होती है, वह मोहावरण से होती है, आत्म ज्ञान से नहीं। 'योग-सूत्र' में भी कहा है—'व्युत्थाने सिद्धिः'। 'आणवोपाय' और 'शाम्भवोपाय',—दोनों की सिद्धियां एक ही प्रकार की होती हुई भी उनमें उपलब्धि-प्रकार के अनेक अन्तर हैं तथा ये मोह में डालती हैं। आत्म ज्ञान में इनका उपयोग नहीं है।

इसलिए मोह को निवृत्त करने का उपदेश किया जाता है—

७. मोह जयानन्ताभोगात् सहज विद्या जयः

योगी मोहं निजाख्यातिं यदा जयति, तदाऽनन्त सूर्य प्रकाशस्य विस्तारो भवति। तेन सहज विद्याया जयो लाभो भवति ॥७॥

अपने ज्ञान से अपने अज्ञान-रूपी मोह को जब योगी जीत लेता है, तब अनन्त उद्यम-रूपी सूर्य के प्रकाश का विस्तार होता है और इस आत्म प्रकाश के द्वारा सहज विद्या की प्राप्ति होती है।

८. जाग्रद् द्वितीयः करः

तस्याः पूर्णाहन्ताया भिन्नो द्वितीया करः किरण रूपः प्रकाशः इदन्ताविमर्शः अस्य विश्वं स्व किरण तुल्यं स्फुरति ॥८॥

उस 'पूर्णाहन्ता', रूपी स्वयं प्रकाश की भिन्न दूसरी किरण 'इदन्ता'-विमर्श की है अर्थात् 'पूर्णाहंता' की द्वितीय किरण विश्व-रूप 'इदन्ता'-विमर्श को कहा है, क्योंकि 'प्रकाश' प्रथम किरण है तथा 'विमर्श' दूसरी किरण है, जिसके द्वारा यह सारा विश्व स्व किरण-रूप में ही स्फुरित हो रहा है।

अब इस 'किरण'-रूप 'विमर्श' का संसारी आत्मा-रूप से वर्णन करते हैं–

९. नर्तक आत्मा

अनेन प्रकारेण स्वेच्छया आधार रूपायां चिति स्व परिस्पन्द लीलया जाग्रत्स्वप्न-सुषुप्ति-भूमिकासु नृत्यन् आत्मा आभासितस्य कारण भवति नर्तक इव ॥९॥

इस प्रकार का आत्मा स्वेच्छा से स्वात्म चित्त-रूपी आधार पर स्व परिस्पन्दलीला से जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति-रूपी भूमिका में सतत नृत्य करता हुआ आभासित होने के कारण 'नर्तक' कहलाता है।

यह भ्रमण शील अवस्था स्वेच्छा से जगद् गुरु ने ही धारण की है–

१०. रङ्गोऽन्तरात्मा

एवं नाट्य कुर्वन् योगि भूमिका ग्रहण स्थानं स्वयमन्तरात्मा जगद् गुरुर्जगन्नाट्यं प्रकाशयति ॥१०॥

इस प्रकार नाट्य करनेवाले योगी के भूमिका ग्रहण करने का स्थान (रंगभूमि) स्वयं अन्तरात्मा जगद् गुरु है, जो इस जगत्-रूप नाटक को सञ्चालित कर रहा है।

११. प्रेक्षकाणीन्द्रियाणि

इन्द्रियाणि दर्शक स्थानीयानि भवन्ति ॥११॥

इन्द्रियाँ दर्शक के समान हैं।

इस प्रकार की स्थिति-प्राप्त योगी का वर्णन करते हैं–

१२. धी वशात् सत्त्व सिद्धिः

धीस्तत्त्व चिन्तन जन्य वैशद्य युक्ता तस्माच्च सत्त्वस्य स्फुरणम् तेनान्तर परिस्पन्दस्य अभिव्यञ्जना जायते। स्पन्देऽन्तर्निहिता सिद्धः सत्त्व सिद्धिः ॥१२॥

'धी तत्त्व' के चिन्तन से उत्पन्न विस्तार के कारण 'सत्व' के स्फुरण से 'अन्तर-परिस्पन्द' की व्यञ्जना (अभिव्यक्ति) होती है। इस 'स्पन्द' में निहित 'सिद्धि' को 'सत्त्व सिद्धि' कहते हैं।

'सत्त्व-सिद्धि' से प्राप्त परिणाम को बताते हैं–

१३. सिद्धः स्वतन्त्र भावः

अनया सिद्धया युक्तो योगी सिद्धः स्वतन्त्रो भवति ॥१३॥

इस सिद्धि से युक्त पुरुष स्वतन्त्र हो जाता है। उसे अखिल विश्व को स्व वश में करने की क्षमता प्राप्त होती है।

ऐसे योगी की व्यापकता का वर्णन करते हैं–

१४. यथा तत्र तथाऽन्यत्र

यथा स्वस्मिन् देहे स्वात्मानन्दमनुभवति, तथाऽन्यत्र देहेष्वपि समाप्रतिपत्तिः ॥१४॥

वह जैसे अपनी देह में, वैसे ही अन्य देहों में भी स्वात्मानन्द की अनुभूति करता है।

इसअवस्था-प्राप्त योगी को सावधान किया जाता है–

१५. बीजावधानम्

अतो योगिना सावधानेन भवितव्यम्, प्रस्तुत विश्व कारणे चित्तं समाधातव्यम् ॥१५॥

इस प्रकार के योगी को सावधान रहना चाहिए अर्थात् विश्व के कारणरूप बीज में चित्त को बारम्बार लगाना चाहिए।

सावधान करने से क्या होता है, यह बताते हैं–

१६. आसनस्थः सुखं ह्रदे निमज्जति

परा शक्तौ सावहितो योगी आसनस्थ एवं सम्वित् सिन्धौ ह्रदे सुखेन मग्नस्तन्मयो भवति ॥१६॥

परा शक्ति में सदा सावधान रहनेवाला योगी आसनस्थ ही परानन्द-रूपी सम्वित्-सिन्धु में (हृदय में) सुख से निमज्जित-तन्मय होता रहता है।

इस अवस्था-प्राप्त योगी की सामर्थ्य बताते हैं–

१७. स्व मात्रा-निर्माणमापादयति

अनेनाणवोपायेन शाक्तावेश प्रकर्षाद् योगी शाम्भवं वैभवमाप्नुवन् स्वेच्छया स्व मात्रां निर्मातु शक्नोति अर्थात् बुद्धि क्रियया युक्तश्चितं निर्मायतां द्रष्टुं शक्नोति ॥१७॥

इस प्रकार आणवोपाय से प्राप्त शाक्तावेश के प्रकर्ष से योगी शाम्भव वैभव को प्राप्त हुआ स्वेच्छा से 'स्व मात्रा' का निर्माण कर सकता है अर्थात् बुद्धि-क्रिया से युक्त 'चित्त' का निर्माण कर उसे देख सकता है।

इस अवस्था की नितय-स्थिति का फल बताते हैं–

१८. विद्याऽविनाशे जन्म विनाशः

विद्याया अविनाशे सदोदये सति जन्मनोऽज्ञान सहकारि क्रिया हेतुकस्य दुःखमयस्य शरीरादि समुदायस्य विनाशः विध्वंसः सम्पद्यते ॥१८॥

जब यह 'सहजा विद्या' सदा उदित रहती है, तब पुनर्जन्मादि का सम्बन्ध नष्ट हो जाता है। जन्म के मूल 'अज्ञान' से उत्पन्न होनेवाली क्रिया, अर्थात् सुख-दुःख इत्यादिक शारीरिक समुदाय का ध्वंस हो जाता है।

इस अवस्था-प्राप्त योगी को पतित करनेवाली शाक्तियों से सचेत किया जाता है–

१९. क वर्गादिषु माहेश्वराद्याः पशु मातरः

यदा योगी शुद्ध विद्यायां निमग्नो भवति, तदा तं मोहयितुम् अनेकाः शक्तय आविर्भवन्ति तासु क वर्गादिषु अधिष्ठित्र्यो माहेश्वर्यः शक्तयस्त्-त्प्रत्यय-भूमिषु आविष्टगाः सत्यः प्रातृन् तत्तच्छब्दानुबेधेन मोहनात् 'पशु मातर' इत्युच्यन्ते ॥१९॥

जब 'शुद्ध-विद्या' के स्वरूप में योगी निमज्जित होने लगता है तब उसे मोहने के लिये अनेक शक्तियाँ उठती हैं। इनमें से 'क वर्गादि' में अधिष्ठित माहेश्वरी आदि शक्तियाँ तत्प्रत्यय-भूमि में आविष्ट होकर प्रमाताओं (पशुओं) का तत्तच्छब्दानुबेध से मोहने की कारण जो हैं, 'पशु-माता' कहलाती हैं अर्थात् बन्धन नारी-शक्तियाँ हैं।

इस सूत्र के द्वारा योगी को अपने साधन में लगातार लगे रहने को कहा गया है, जिससे वह अपने मार्ग से च्युत न हो सके।

२०. त्रिषु चतुर्थ तैल वदासेच्यम्

शुद्ध विद्या प्राप्तौ सत्यामपि योगिना प्रमादेन न स्थातव्यम्। जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु तुरीयाया आसेचनं तैल वत्कार्यम्। यथा तैलं क्रमेण प्रसरत् आश्रयं प्राप्नोति, तथा तुर्य रसेन मध्य दशामपि व्याप्नुव् तन्मयत्वं प्राप्तव्यम्॥२०॥

इसलिये 'शुद्धविद्या के प्राप्त होने पर भी योगी को प्रमाद नहीं करना चाहिए। उसे तो जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति-तीनों अवस्थाओं में 'तुरीया' का सदा ही आसेचन करना चाहिए। आसेचन से तात्पर्य है कि जिस प्रकार दीपक में तेल डालकर उसकी लौ को बनाए रखा जाता है, इसी प्रकार जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति में तुरीया को अपनाते रहना चाहिए, जिससे चित्त का स्फुरण अभेद-रूप से होता रहे।

इसी दृढ़ता के लिए पुनः कहते हैं–

२१. मग्नः स्व चित्तेन प्रविशेत्

भग्नस्तुरीयानन्दे शरीरादि प्रमातृत्वं, शमयन्, स्व चित्तेन अविकल्प रूपेण समाविशेषत्॥२१॥

'तुरीयानन्द' में मग्न होकर शारीरादि की 'प्रमातृता' का शमन करना चाहिए तथा चित्त को विकल्प-रहित (स्व सम्विद्) करके उसमे समाविष्ट होना चाहिए।

स्वसम्विद् में प्रवेश का फल कहते हैं–

२२. प्राण समाचारे सम दर्शनम्

एवमनुष्ठितं कुर्क्तो योगिनः प्राणेऽस्य बहिर्मन्द-मन्द-प्रसरणे एकात्म तया सम्वेदनम् सर्वासु अवस्थासु अभेदो भवति, तदा अद्वैतानुभवः सम्पद्यते॥२२॥

इस प्रकार अनुष्ठान करते हुए योगी के प्राण में बाहर मन्द-मन्द प्रसरन में एकात्मता से जब सम्वेदन अर्थात् समस्त अवस्थाओं में अभेद की अनुभूति होती है, तब अद्वैतानुभव सम्पन्न होता है।

२३. मध्येऽवरः प्रसवः

यो योगी तुरीयामवस्थां प्राप्नुवन्नपि तुरीयातीतां न लभते, मध्ये स्थितस्य तस्य कुत्सितस्य सृष्टौ पतनं भवति॥२३॥

जो योगी 'तुरीयावस्था' को प्राप्त करता हुआ तुरीयातीत का लाभ नहीं करता है, तो ऐसी मध्य की स्थिति में कुत्सित विचारों की सृष्टि होने से यह पतित हो जाता है।

२४. मात्रा स्व प्रत्यय सधाने नष्टस्य पुनरूत्थानम्

मात्रासु पदार्थेषु रूपादि नामकेषु यदा अहमेवेदं सर्वम् इति प्रत्ययानुसन्धानं पुनः पुनश्चिन्त्तं करोति, तदा पूर्वोक्तात् पतनात् नष्टस्य लुप्तस्य तुर्यानन्दस्य उन्मज्जनमाविर्भावो जायते ॥२४॥

रूपादि पदार्थों में (मात्राओं में) स्व प्रत्यय का अनुसन्धान, अर्थात् 'अहमेवेदं सर्वम्' इस प्रत्यय का पुनः-पुनः अनुसन्धान करने से पूर्वोक्त पतन से बचकर 'तुरीयानन्द' का पुनः आविर्भाव होता है अर्थात् 'स्व प्रत्यय' के चिन्तन से नष्ट 'तुरीयानन्द' को पुनः-पुनः उठाना चाहिए।

२५. शिव तुल्यो जायते

तुरीयाभ्यास प्रकर्षेण प्राप्त तुरीयातीतो योगी सच्चिदानन्द घनेन भगवता शिवेन तुल्यो यौगिक शरीरेण सार्धं समो जायते। देह कलाया अविलयनात् तद्विगलिते शिव एव। "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैतीति" श्रुतेः ॥२५॥

'तुरीयाभ्यास' के प्रकर्ष से प्राप्त 'तुरीयातीत' योगी सच्चिदानन्द धन शिवतुल्य हो जाता है। अर्थात् इसी शरीर में योगिक शरीर द्वारा देह-कला के विगलन से 'शिवत्त्व' की प्राप्ति होती है। **"निरञ्जनः परमं साम्यमुपैतीति" श्रुतेः**—अर्थात् 'निरञ्जन-तत्त्व' से उसका परम साम्य हो जाता है।

२६. शरीर वृत्तिर्व्रतम्

शिवोऽहम्भावेन वर्तमानस्य योगिनः शरीरे वृत्तिर्वतनं यत्तदेव व्रतम् अनुष्ठातव्यं नान्यदुपयुक्तम्। उक्त च—"अन्तरुल्लसदच्छाच्छ भक्ति पीयूष पोषितम्। भवत्पूजोपयोगाय शरीरमिदमस्तु मे ॥' इति ॥२६॥

शरीर की वृत्ति ही 'व्रत' है। 'अन्तर आनन्द से उल्लसित, भक्ति-सुधा से परिपोषित यह शरीर तुम्हारी पूजा के उपयोग में ही लगा रहे, इसकी कदापि तुच्छ धारणा न हो'—इस प्रकार की शरीर-वृत्ति का 'व्रत' करता रहे अथवा 'शिवोऽहम्' की सतत् भावना करता रहे। इसका अनुष्ठान करना चाहिए, इसी का नाम 'व्रत' है। इसके अतिरिक्त कुछ भी उपयुक्त नहीं है।

स्वरूप-प्राप्त योगी का वर्णन करते हैं—

२७. कथा जपः

ईदृशस्य परम भावना भावितस्य योगिनः वार्तालापादिकं जप कार्य भवति ॥२७॥

ऐसे योगी की, जो बार-बार परम भाव से भावित होता रहता है, बातचीत ही जप है।

२८. दानमात्म ज्ञानम्

स शिष्येभ्यो दानम् आत्म ज्ञानं ददाति समर्थत्वात्। दीयते इति दानम् ॥२८॥

इस प्रकार का योगी अपने परिपूर्ण स्वरूप को अथवा 'शिवात्म-ज्ञान' को शिष्यों में दान-रूप में वितरण करता है।

२९. योऽविपस्थो ज्ञानहेतुश्च

तस्य माहेश्वर्यादयः शक्तयः—अवीन् पशु जनान् पातीति अविपं शक्ति मण्डलं—क वर्गाद्यधिष्ठात्र्यो देव्यो भवन्ति। तासां प्रभुत्वेन यः स ज्ञान शक्ति-हेतुः, ज्ञान शक्त्या विनेयान् बोधयितुं च निश्चयेन समर्थो भवति ॥२९॥

उसकी माहेश्वरादि शक्तियों और क वर्गादि—अधिष्ठात्री देवियों के प्रभाव से 'ज्ञान' की उत्पत्ति होती है और 'ज्ञान-शक्ति' के अवश्यम्भावी परिणाम से उसमें 'शिव' का बोध होने की सामर्थ्य उत्पन्न होती है। माहेश्वरादि शक्तियों का प्रभाव 'ज्ञान' की उत्पत्ति का कारण है तथा 'ज्ञान' शक्ति बोध के निश्चय का कारण है।

३०. स्व शक्ति प्रचयोऽस्य विश्वम्

तस्य स्व शक्त्यात्मक सम्वेदनस्य स्फुरणात्मको विकास एवं जगत्। उक्त च—"शक्तयोऽस्य जगत् कृत्स्न शक्तिमांस्तु महेश्वरः।" इति॥ शक्ति प्रचयः क्रिया-शक्ति स्फुरण रूपो विकासो विश्वमित्युच्यते ॥३०॥

उसकी स्व शक्ति—आत्म सम्वेदन का स्फुरण-रूप विकास (प्रसाद) ही 'विश्व' हो जाता है। 'प्रसाद' अर्थात् क्रिया-शक्ति का स्फुरण-रूप विकास ही 'विश्व'-रूप हो जाता है।

३१. स्थिति लयौ

तस्मिन् चिन्मयाहन्तायाः स्थितिः, तथात्म विश्रान्ति रूपो लयोऽपि भवित ॥३१॥

उसमें चिन्मय अहन्ता की 'स्थिति' तथा आत्म विश्रान्तिरूप 'लय' भी होता है।

३२. तत्-प्रवृत्तावप्यनिरासः सवेतृ भावात्

ये विकासाः सङ्कोचा अपि स्व शक्ति विकासात् आत्म सम्विदि एवं जायन्ते। ननु सृष्टि स्थिति ध्वंसानामन्योऽन्य भेदेन योगिनः स्वरूपे एवान्यथा भावः परिणाम आगच्छतीति चेन्न तत्-प्रवृत्तावपि स्वरूप च्युतेरभावात् ज्ञान स्वरूपत्वात् ॥३२॥

ये विकास और सङ्कोच स्व शक्ति के विकास से 'आत्म सम्विद्' में ही होते हैं। यहाँ यह शङ्का होती है कि सृष्टि, स्थिति, ध्वंस में इनके अन्योन्य-भेद से योगी के स्व-स्वरूप में अन्यथा भाव आ सकता है। इसका उत्तर है कि सृष्ट्यादि भावों में प्रवृत्त होते हुए भी वह योगी-स्वरूप में स्थित होने से एवं ज्ञान-स्वरूप होने से कदापि च्युत नहीं होता।

३३. सुखासुखयोर्बहिर्मननम्

लोक वत्-तस्य योगिनः सुख-दुःखयोः सम्वेदनं न भवति। स तु नील पीतादिवदनयोर्बहिरेव मननं करोति। प्रशान्त मात्रता भावो योगी सुख दुःखाभ्यां कथमपि न सम्बध्यते ॥३३॥

उसे लोक वत् सुख-दुःख का अन्तर्सम्वेदन नहीं होता। वह तो नीलपीतादि के समान इनका बहिर्मनन करता है। अज्ञान-धनवाला शुभाशुभ से कलङ्कित होता है तथा जिसकी 'मात्रता' याँ सङ्कोच समाप्त हो गया है ऐसा योगी सुख-दुःख से सम्बद्ध नहीं होता।

३४. तद्-विमुक्तस्तु केवली

सुख दुःखाभ्यां विमुक्तस्तत्-संस्कारैश्चास्पृष्टो योगी केवली चिन्मय इत्युच्यते ॥३४॥

सुख-दुःख से मुक्त, संस्कारों से अस्पृष्ट योगी चिन्मय 'केवली' कहलाता है।

३५. मोह प्रति संहतस्तु कर्मात्मा

मोहेन अज्ञानेन प्रति संहतस्तादात्म्यमापन्न स एव कर्मात्मा संसारीति कथ्यते। उक्त च–"अज्ञानैक घनो नित्यं शुभाशुभ कलङ्कितः।" इति ॥३५॥

मोह (स्व ख्याति) के प्रति संहत वही तादात्म्य-प्राप्त योगी 'कर्मात्मा' बनता है। अज्ञान से मूढ़ होकर वह संसारी बन जाता है तथा शुभ और अशुभ से कङ्कित हो जाता है।

३६. भेद तिरस्कारे सर्गान्तर कर्मत्वम्

देह-प्राणादौ यः अहन्ता रूपौ भेदस्तस्य तिरस्कारात् शुद्ध चैतन्याविर्भावात् सर्गान्तर कर्मत्वम् अभिलषितदस्तु निर्मातृत्वं भवति॥३६॥

देह-प्राणादि में अहन्ता-रूपी भेद के तिरस्कार से 'शुद्ध चैतन्य' के आविर्भाव होने पर 'सर्गान्तर' में कर्मत्व की प्राप्ति होती है अर्थात् देह को अभिलषित वस्तु के निर्माण की सामर्थ्य प्राप्त होती है।

३७. करण शक्तिः स्वतोऽनुभवात्

यथा स्वप्न सङ्कल्पादौ स्वतः करण सामर्थ्यस्य दर्शनात् करण शक्तिरनुभूयते, तथैव स्वानुभवे सततं संल्लग्नाद् योगिनः करण शक्तिर्भवति॥३७॥

जैसे स्वप्न-सङ्कल्पादि में स्वतः ही करण के सामर्थ्य के दर्शन से करणशक्ति का अनुभव होता है, उसी प्रकार स्वानुभव में सतत संलग्न रहने से योगियों को करण-शक्ति का अनुभव होता है।

३८. त्रिपदाद्यनु प्राणनमा

स योगी दृढ़ भावनातः स्वप्न सङ्कल्पेन तुल्य सृष्टि करोति। अनया स्वतन्त्रकरण शक्त्या अवस्था त्रयं जाग्रत स्वप्नसुषुप्त्याख्यं धृत्वा अनु प्राणिति यद्यपितुर्याख्यं पदं माययाऽऽच्छादितं। तथापि विषय भोगाद्यवसरेषु विद्युद्-वदवभासनं तेन अनु प्राणनं स्वात्मनः उत्तेजनं कर्तव्यम्॥३८॥

वह अपनी दृढ़ भावना से स्वप्न-सङ्कल्प के समान सृष्टि निर्माण करता है तथा इस स्वतन्त्र करण-शक्ति से योगी जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति–इन तीनों पदों को धारण कर अनुप्राणित करता है। यद्यपि इस अवस्था में 'तुरीय'-पद माया से आच्छादित रहता है। तथापि विषय-भोगादि के अवसर पर विद्युत्-प्रकाश की तरह वह उत्तेजित होता है अर्थात् अनुभव में आता ही है अर्थात् विषय भोग के अवसर में भी उस 'तुरीय' से स्वयं को अनुप्राणित करना चाहिए।

३९. चित्त स्थितिवच्छरीर करणं बाह्येषु

इयं स्वतन्त्रा शक्तिः चित्त स्थिति तुल्यं शरीरं बाह्यं करणमिन्द्रियं तद्-विषयं च अनु प्राणिति नन्मयी च भवति॥३९॥

यह स्वतन्त्र 'लक्षणा-शक्ति' चित्-स्थिति के समान ही शरीर के बाह्य करणों (इन्द्रिय तथा उनके विषय) को भी अनुप्राणित करती है और तन्मय हो जाती है।

इस अवस्था में भी योगी को अल्प अङ्कार से सचेत किया जाता है–

४०. अभिलाषाद्बहिर्गतिः सम्वाह्यस्य

यदि योगी तुरीयावस्थातो देहादिषु प्रच्युतो भवति तेषु अहं मयाभि मन्यते तर्हि अपूर्ण मान्यता रूपया अनया अभिलाषया जन्म जन्मान्तरेषु भ्रमण शीलस्य पशुत्वस्य केवला बहिर्गतिरेव भवति ॥४०॥

यदि योगी 'तुरीयावस्था' से देहादि में प्रच्युत हो जाता है अर्थात् 'तुरीयावस्था' में स्थित योगी का देह-पात हो जाता है और उसे शरीर में 'अहं मय' भावना शेष रह जाती है, तो अपूर्ण मन्यता-रूप इस अभिलाषा से जन्म जन्मातर में भ्रमण करते हुए पशुत्व की केवल बाह्य गति प्राप्त होती है अर्थात् 'बन्धन' की व्यप्ति अन्तर आत्मा में नहीं होती है। इसी अभिप्राय को आगामी सूत्र में स्पष्ट कहा गया–

४१. तदारूढ प्रमितेस्तत्क्षयाज्जीव संक्षयः

सावित्परामर्श संलग्नस्य योगिनः अभिलाष-क्षयात् जीवत्व भावना अपि विनश्यति केवलं चिन्मात्र रूपेण स्फुरतीत्यर्थः ॥४१॥

उस 'तुरीयावस्थित परिमित' पर आरूढ़ योगी की अभिलाषा के क्षय होने पर जीवत्व का विनाश हो जाता है। 'तुरीयावस्था' के ज्ञान के परामर्श से युक्त योगी की अभिलाषा के क्षय होने पर 'जीवत्व' का नाश हो जाता है। अतः केवल 'चिन्मात्र'–रूप से उसका स्फुरण होता है।

४२. भूत कञ्चु की तदा विमुक्तो भूयः पति समः परः

प्रपञ्च रूपात् पञ्च कञ्चुकात् विमुक्तो योगी पति समः शिव तुल्यः परः उत्कृष्टः स भवति ॥४२॥

प्रपञ्चरूप पाँच कंचुकों (आवरणों) से विमुक्त योगी शिव-तुल्य उत्कृष्ट स्थिति को प्राप्त कर लेता है। 'कंचुक-पञ्च' के द्वारा भौतिक आवरणों का त्याग यहाँ योगी को आवश्यक बतलाया है।

४३. नैसर्गिकः प्राण सम्बन्धः

यद्यपि शिवत्वमनुभवति तथापि पाञ्च भौतिक शरीरेण सम्बन्ध युक्त एव भवति यतस्तस्य प्राण सम्बन्धस्य स्वाभाविकत्वात् ॥४३॥

यद्यपि 'भूत-सम्बन्ध-त्याग' से योगी को 'शिवत्व' की प्राप्ति हो जाती है, तथापि

पाञ्च-भौतिक माया मय शरीर से सम्बन्ध रहने के कारण 'प्राण-सम्बन्ध' स्वाभाविक रूप से बना रहता है।

४४. नासिकाऽन्तर्मध्य संयमात् किमत्र सव्यापसत्य-सौषुम्णेषु

नासिकाऽन्तर्वर्तिन्याः प्राण शक्तेश्चन्द्र सूर्य सुषुम्णात्मिकायाः संयमादेकी करणात् परायां संविदि विमर्शे सतत रता आन्तरं मध्यं प्रधानमन्तर तमं विमर्श रूपं संयच्छन्तो ये महात्मानो विद्यन्ते, तेषां कृते किमवशिष्यते न किमपीत्यर्थः ॥४४॥

नासिका के मध्य सञ्चार करनेवाली 'प्राण-शक्ति' के, जो चन्द्र-सूर्य-तत्त्वात्मक है, उसके सुषुम्ना-मार्ग में (कुण्डलिनी रूप) संयमन करने से परा संविद् (आत्म ज्ञान) प्राप्ति में निरन्तर ध्यान निष्ठ योगि जनों को अन्तःकरण के अन्तः मध्य, तथा प्रधान तत्त्वों का प्रतिबोध हो जाता है अर्थात् वे 'ब्रह्म क्षानी' पद प्राप्त कर लेते हैं। ऐसे महान् आत्माओं को सर्वज्ञता स्वयं सुलभ हो जाती है।

४५. भूयः स्यात् प्रति मीलनम्

ते योगिनो जीवन्मुक्ता अहरहः परमानन्दमेवास्वदयन्ति चैतन्यात्म रूपोन्मीलन रूपं तेषा भवतति ॥४५॥

पूर्वोक्त ब्रह्म साक्षात्कार-प्राप्त योगी जन जीचन्मुक्तावस्था को प्राप्त कर प्रतिदिन परमानन्द का आनन्दोपभोग करते हुए नित्य चैतन्य-स्वरूप हो जाते हैं।

॥ इति श्रीशिव सूत्राणां 'ऋज्वर्थ बोधिनी' तथा 'सरलार्थ-बोधिनी' वृत्ति सहित 'आणवोपाय' प्रकाशन नामकस्तृतीय उन्मेषः समाप्तः॥





आंचार्य वसुगुप्त
एवं
तच्छिष्य आचार्य कल्लट
विरचिता



स्पन्द-कारिका

(हिन्दी-टीका-सहित)



स्पन्द-कारिका

॥ ॐ श्रीचिदात्म-वपुषे शङ्कराय नमः ॥

शिव का स्वरूप

यस्योन्मेष-निमेषाभ्यां, जगतः प्रलयोदयौ।
तं शक्ति-चक्र-विभव-प्रभवं शङ्करं स्तुमः ॥१॥

अर्थ—जिसके उन्मेष और निमेष से इस विश्व का उदय और अस्त होता है, उस शक्ति-चक्र के प्रभाव अर्थात् होने को जो प्रकाशित करता है, उस शङ्कर की हम स्तुति करते हैं ॥१॥

शक्ति का स्वरूप

यत्र स्थितमिदं सर्व कार्य यस्माच्च निर्गतम्।
तस्यानावृत-रूपत्वान्ननिरोधोऽस्ति कुत्र-चित् ॥२॥

अर्थ—जितना भी यह सब स्थित है, अर्थात् सत्ता-रूप में भासित है तथा जिससे यह समस्त कार्य निकला है, वह अनावृत रूप ही है। उसका कभी निरोध नहीं होता ॥२॥

अणु-रूप जीव का स्वरूप

जाग्रदादि-विभेदेऽपि, तदभिन्नने प्रसर्पति।
निवर्तते निजान्नैव, स्वभावादुपलब्धतः ॥३॥

अर्थ—जाग्रदादि अवस्थाओं में भेद रहते हुए भी तथा उनसे अभिन्न रहकर ही प्रवाहित हो रहा है, परन्तु उसको अन्यथा-भाव की प्राप्ति न होकर, अर्थात् उसका स्वरूप अनावृत ही है, जो स्वभाव-रूप में उपलब्ध है ॥३॥

सम्विद् कला का स्वरूप

अहं सुखी च दुःखी च, रक्तश्चेत्यादि सम्विदः।
सुखाद्यवस्थानुस्यूते, वर्तन्तेऽन्यत्रताः स्फुटम् ॥४॥

अर्थ–'मैं सुखी अथवा दुःखी हूँ', यह अनुभव जिस सम्बेदन द्वारा प्रमाता को होता है, यही सम्वेदनात्मक सम्विद्-कला है, जो सुखादि अवस्थाओं में अनुस्यूत होकर प्रमाता-रूप में भासित हो रही है, अर्थात् यह जो अभिन्न होकर भी भिन्न के समान भासनेवाला तत्त्व है, यही सम्बिद्-कला का रूप है, अर्थात् जाग्रदादि का भेद-रूप से अनुभव होने पर भी जो सामान्य रूप में उपलब्ध 'ज्ञान' है, उसका स्वरूप आवृत नहीं होता, न अन्यथा भाव की उसे प्राप्ति होती है।।४।।

न दुःखं न सुखं यत्र, न ग्राह्मं ग्राहकं न च।
न चास्ति मूढ-भावेऽपि, तदस्ति परमार्थतः ।।५।।

अर्थ–उसके इस सम्विद्-रूप में सुख-दुःख ग्राह्य और ग्राहक अथवा भोग्य और भोक्ता के मूढ़ादि भाव स्पष्ट दीखते हुए भी परमार्थतः वह नित्य-स्वभाव है, उसमें यह सब नहीं है। सुखादि भाव सङ्कल्प से उत्पन्न होनेवाले क्षण भंगुर हैं, उस सम्विद्-रूप या आत्म स्वभाव से बाहर है। शब्दादि विषय-रूप सुखादि रूपों का अभाव होते हुए भी वह पाषाण वत् अवस्था नहीं है, अपितु पूर्ण चैतन्य मात्र भाव है।।५।।

यतः करण वर्गोऽयं, विमूढो मूढ वत्स्वयम्।
सहान्तरेण चक्रेण, प्रवृत्ति-स्थिति-संहतीः ।।६।।
लभते तत्-प्रयत्नेन, परीक्ष्यं तत्त्वमादरात्।
यतः स्वतन्त्रता तस्य, सर्वत्रेयम कृत्रिमा ।।७।।

अर्थ–इस स्पन्द तत्त्व के बाहर ही यह इन्द्रिय-वर्ग जो प्रयत्न करने का सीमित भाव है, करण-वर्ग है, जड़-रूप है, उसका उदय होता है। इसी अन्तःकरण के साथ चेतन के समान मूढ़ भावों की उत्पत्ति होती है और इसी के कारण ही यह प्रवृत्ति, स्थिति, संहार का चक्र चल रहा है, अर्थात् यही जो बन्धन का हेतु है, वही मोक्ष का भी हेतु है। इसलिए इसी के अन्तः उद्योग उत्साह के द्वारा श्रद्धापूर्वक

योग बल का आश्रय स्वीकारने से उस स्वतन्त्र तत्त्व की प्राप्ति भी हो जाती है, जिसके बिना यह सब मिथ्या है ॥६-७॥

न हीच्छा नोदनस्यायं, प्रेरकत्वेन वर्तने।
अपि त्वात्म बल-स्पर्शात् पुरुषस्तत्समो भवेत् ॥८॥

अर्थ—तब वह इच्छा शक्ति से आच्छादित हुआ प्रेरक रूप से वर्तता है और अपने आत्म बल के योग से वह साधक तो उसी के समान हुआ रहता है ॥८॥

निजा शुद्धा समर्थस्य, कर्तव्येष्वभिलाषिणः।
यदा क्षोभः प्रलीयेत, तदा स्यात्परमं पदम् ॥९॥

अर्थ—जब तक माया में आवृत है और आत्म बल का स्पर्श नहीं होता, तभी तक सुख-दुःख के चक्र में पड़ा रहता है, परन्तु ज्यों ही अल्पाहन्ता-रूप क्षोभ का लय होता है, परम पद की प्राप्ति हो जाती है ॥९॥

परमार्थ में विज्ञान का रूप

तदाऽस्याऽकृत्रिमो धर्मो, ज्ञत्व-कर्तृत्व-लक्षणः।
यतस्तदीप्सितं सर्वं जानाति च करोति च ॥१०॥

अर्थ—अहमिति प्रत्यय-रूप क्षोभ के लीन होने पर जो आत्म स्वरूप के सहज धर्म, ज्ञत्त्व, कर्तृत्त्व आदि हैं, वे स्वभाव-रूप से स्थिर हो जाते हैं, अर्थात् ज्ञत्त्व, कर्तृत्त्व-भाव जो अल्पहन्ता में हैं, वे पूर्णता को प्राप्त होकर पूर्णाहं-रूप से 'मैं जानता हूँ', 'मैं कर्ता हूँ', यह सर्व रूप से मूल प्रकृति में स्थित हो जाते हैं ॥१०॥

योगस्थ पुरुष का वर्णन

तमधिष्ठातृ-भावेन, स्वभावमवलोकयन्।
स्वयमान इवास्ते, यस्तस्येयं कुसृतिः कुतः ? ॥११॥

अर्थ—जब वह सबमें अनुस्यूत सर्व सामर्थ्य युक्त आत्म स्वभाव में प्रतिष्ठित हो जाता है, तो उसके उसमें स्थित होने के कारण सर्व व्यापक स्वभाव से स्थित

हुआ आश्चर्यवत् अपने को देखता है तथा तब अविद्या के विलय हो जाने के कारण उसका संसरण नहीं होता ॥११॥

अन्तराय

नाभावो भाव्यतामेति, न च तत्रास्त्यमूढ़ता।
यतोऽभियोग-संस्पर्शात दासीदिति निश्चयः ॥१२॥
अतस्तत् कृत्रिमं ज्ञेयं, सौषुप्त पद वत् सदा।
न त्वेवं स्मर्यमाणत्वं, तत्तत्वं प्रतिपद्यते ॥१३॥

अर्थ—उसकी अभाव-रूप से भावना नहीं करनी चाहिए क्योंकि वह मूढ़ता के भाव जैसा नहीं है। वह तो नित्य ही उदित चिद् रूप से अनुभव किया जाता है। व्युत्थान-दशा में उसका स्मरण चिद् रूप से ही होता है। सुषुप्ति के समान मूढ़ भाव से उसका स्मरण नहीं होता। इसलिए नित्य अनुभवरूप या चिद् रूप से ही उसकी भावना करनी चाहिये, अचिद् या अभाव-रूप से नहीं करनी चाहिए ॥१२-१३॥

साधन का विज्ञान

अवस्था युगलं चाऽत्र, कार्य-कर्तृत्व-शब्दितम्।
कार्यता क्षयिणी तत्र कर्तृत्वं पुनरक्षयम् ॥१४॥

अर्थ—कार्य, कर्तृत्व-संज्ञक यह द्वैत-रूप अवस्था भोग्य-भोक्ता-रूप है। इसमें जब भोग्य-रूप कार्य का लय हो जाता है, तो भोक्ता-रूप कर्तृत्त्व का भी लय हो जाता है, अर्थात् पूर्णाहन्ता-भाव से अहमिति प्रत्यय और इदं का उदय और अस्त एक साथ ही होता है ॥१४॥

परमार्थ—प्राप्त योगी की अवस्था

कार्योन्मुखः प्रयत्नो यः, केवलं सोऽत्र लुप्यते।
तस्मिल्लुप्ते विलुप्तोऽस्मीत्यबुधः प्रतिपद्यते ॥१५॥

अर्थ—कार्य-सम्पादन का जो बाह्य इन्द्रिय-व्यापार है, केवल उसका ही लोप होता है, अर्थात् बाह्य इन्द्रिय-व्यापार पूर्ण स्वभाव में सामर्थ्यरूप से लुप्त होने से साधक उसको जड़ प्रकृति में हुआ ही अनुभव करता है, परन्तु भाव का नाश नहीं होता, अर्थात् साधक अपने को चिद् रूप से ही अनुभव करता है ॥१५॥

तथा

न तु योऽन्तर्मुखो भावः, सार्वज्ञाद्रि-गुणास्पदम् ।
तस्य लोपः कदाचित्तु, स्यादन्यस्यानुपलम्भनात् ॥१६॥

अर्थ—अन्तर्मुख चक्रारूढ़-स्वभाव के जो सर्वज्ञतादि भाव हैं, जिनके आश्रित गुण हैं, उनका नाश नहीं होता, अपितु द्वितीय के अन्य रूप से उपलब्ध न होने पर व्योम-वत् चिद्रूप से सर्वत्र ही अपने स्वरूप की अनुभूति रहती है ॥१६॥

तथा

तस्योपलब्धिः सततं, त्रिपदा व्यभिचारिणी ।
नितयं स्यात् सुप्रबुद्धस्य, तदाद्यन्ते परस्यतु ॥१७॥

अर्थ—उसको सर्व गत चिद् रूप की उपलब्धि जाग्रदादि तीनों पदों में बोध-रूप से नित्य ही रहती है, उसका कभी व्यभिचार नहीं होता। उस प्रबुद्ध दशा का नितय जागरण ही स्वरूप है, अर्थात् सुप्त और तुर्य के समान स्वप्न और जाग्रत् दशा में त्याग-भाव के द्वारा वह समान रूप से रहती है ॥१६॥

तथा

ज्ञान-ज्ञेय-स्वरूपिण्या, शक्त्या परमया युतः ।
पद द्वये विभुर्भाति, तदन्यत्र तु चिन्मयः ॥१८॥

अर्थ—ज्ञान और ज्ञेय-भाव से ही भेद का सम्वेदन होता है। जाग्रत् और स्वप्न के दोनों पदों में दोनों भाव ज्ञान और ज्ञेय-रूप से ही अनुभव होते हैं, परन्तु सुषुप्ति

और तुर्य के दो पदों में केवल चिद् रूपता का अनुभव होता है। वहाँ दो रूपों का भेद-रूप से अनुभव नहीं होता, अर्थात् अन्य-अन्य भाव से इन दशाओं में ज्ञान की उपलब्धि नहीं होती। अथवा इन जाग्रत् और स्वप्न-रूप भेद-मूलक दोनों पदों में वह अपने को नित्य व्यापक चिन्मय तुर्य-भाव से ही अनुभव करता है और समस्त द्वैत उसी अद्वैत में ही भासमान है, अन्यत्र नहीं ॥१८॥

विज्ञान का स्वरूप

गुणादि-स्पन्द-निष्यन्दाः, सामान्य स्पन्द-संश्रयात्।
लब्धात्म लाभाः सततं, स्युर्ज्ञस्या परिपन्थिनः ॥१९॥

अर्थ—सामान्य स्पन्द में ही गुणादि स्पन्द-रूप जगत् की उत्पत्ति और स्थिति है। उसी के ज्ञान से आत्म-लाभ होता है क्योंकि वह उस आत्म तत्व से ही एकाकार है, अर्थात् जगत् और आत्मा दोनों का भान इसी सामान्य स्पन्द के आश्रय से होता है क्योंकि यह सामान्य स्पन्द ही दोनों को अविरोधी भाव से धारण किये हुए है। इसलिए इस सामान्य स्पन्द को ही समझ लेना चाहिए ॥१९॥

विज्ञान के न जानने से हानि

अप्रबुद्ध धियस्त्वेते, स्व स्थिति स्थगनोद्यताः ।
पातयन्ति दुरुत्तारे, घोरे संसार-वर्त्मने ॥२०॥

अर्थ—मूढ़ लोग उस (सामान्य स्पन्द) की चिद् रूप से भावना नहीं करते इसी कारण गुणों से प्रभावित घोर संसार में पतित होते हैं, अर्थात् चिद् रूप से उसका विचार छोड़ देने से मूढ़ लोग गुण रूप संसार में विषम रूप में संसरण करते हैं। इसलिए नित्य ही आत्मा का चिद् रूप से चिन्तन करते रहना चाहिए ॥२०॥

साधन की सरलता बताना

अतः सततमुद्युक्तः, स्पन्द तत्त्व-विविक्तये ।
जाग्रदेव निजं भावमचिरेणाधि-गच्छति ॥२१॥

अर्थ—अतः सर्वदा ही स्पन्द तत्त्व के स्व स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए उद्योग करते रहना चाहिए, ऐसा करने से जाग्रद्-अवस्था में ही अपने आत्मा के तुर्य भोक्तास्वभाव की प्राप्ति शीघ्र ही हो जाती है ॥२१॥

दूसरा प्रकार

अति-क्रुद्धः प्रहृष्टो वा किं करोमीति वा मृशन् ।
धावन् वा यत् पदं गच्छेत्, तत्र स्पन्दः प्रतिष्ठितः ॥२२॥

अर्थ—द्वेष के उत्कर्ष में अथवा अत्यन्त हर्ष होने पर अथवा 'क्या करें, क्या न करें ?'—इस विचार की अवस्था में यदि उस समय गुरु-उपदेशानुसार सामान्य स्पन्द की अवस्था में उतरा जाय, तो भी एकाग्रता के कारण उसमें आत्म-लाभ प्राप्त होकर वह उसमें प्रतिष्ठित हो जाता है ॥२२॥

प्रबुद्ध-दशा का वर्णन

याभवस्थां समालम्ब्य, यदाऽयं मम वक्ष्यति ।
तद् वश्यं करिष्येऽहमति सङ्कल्प्य तिष्ठति ॥२३॥
तामाश्रित्योर्ध्व मार्गेण, सोम-सूर्यावुभावपि ।
सौषुम्णेऽध्वन्यस्तमितो, हित्वा ब्रह्माण्ड-गोचरम् ॥२४॥
तदा तस्मिन् महा व्योम्नि, प्रलीन-शशि-भास्करे ।
सौषुप्त-पद-वन् मूढः, प्रबुद्धः स्यादनावृतः ॥२५॥

अर्थ—समान्य स्पन्द तत्त्व में अधिष्ठित होकर यदि कोई दृढ़ सङ्कल्प से ऐसा निश्चय करता है कि वह इस स्पन्द तत्त्व में ही अपने को प्रतिष्ठित करेगा, तो वह उसके ही आश्रय से शरीर में सोम-सूर्य प्रतीक-रूप इड़ा-पिङ्गला नाड़ियों के मध्य नाड़ी सुषुम्ना में अस्त करके शरीर-मार्ग अर्थात् जगत् में आवागमन का साधन जों शरीर है, उसके प्रवाह को छोड़कर ऊर्ध्व मार्ग से ब्रह्मभाव मे प्रवेश कर जाता है क्योंकि पहले १९वें श्लोक में बताया है कि सामान्य स्पन्द ही लोक और परलोक,

अर्थात् 'गुण-स्पन्द' और 'ब्रह्म-तत्त्व' दोनों का समान रूप से निर्विरोध आधार है। इसलिए उस महा व्योम में जब प्रत्यय-ज्ञान स्थगित हो जाता है, जिसके हेतु ही शशि और भास्कर हैं क्योंकि शशि और भास्कर का यह स्वभाव ही इस द्वैत के ज्ञान-रूप में व्यक्त होत्ता है। इसलिए इनके अस्त हो जाने से जब वह सम्यक् वृत्ति में स्थित होता है और जो स्वप्नादि में मोहित करनेवाली वृत्ति है, जब उसका निरोध हो जाता है, तो वह फिर जो अनावृत-रूप प्रबुद्ध दशा है, उसे प्राप्त हो जाता है ॥२३-२४-२५॥

इति स्वरूप स्पन्दः प्रथम निष्पन्दः ॥

अथ सहज विद्योदयाख्य-द्वितीय निष्पन्दः ॥

विद्या या शक्ति का मार्ग

तदाऽऽक्रम्य बलं मन्त्राः सर्वज्ञ बल शालिनः ।
प्रवर्तन्तेऽधिकाराय, करणानीव देहिनः ॥२६॥

अर्थ—उसके (मन्त्र) बल से वह निरावरण चिद् रूप में प्रतिष्ठित होकर मनन-रूप सर्वज्ञादि बल से युक्त प्रशंसित होने पर अनुग्रहादि व्यवहार करता है, अर्थात् अनुग्रह-शापादि उसके अधिकार में होते हैं। जैसे उसका अधिकार अपनी इन्द्रियों पर होता है। उसी प्रकार वह 'शाप' और 'अनुग्रह' में समर्थ होता है ॥२६॥

साध्य का स्वरूप

तत्रैव सम्प्रलीयन्ते, शान्त रूपा निरञ्जनाः ।
सह साधक-चित्तेन, तेनैते शिव-धर्मिणाः ॥२७॥

अर्थ—तब वह स्व-स्वभाव व्योम में निवृत्त-रूप स्थित होकर उस शान्त निरञ्जन रूप में लीन हो जाता है, अर्थात् साधक अपने चित्त से माया के मोह से मुक्त होकर उसका स्वरूप शिव धर्मा हो जाता है ॥२७॥

जीव का स्वरूप

यस्मात्सर्व मयो जीवः, सर्व भाव समुद्भवः ।

तत् सम्वेदन-रूपेण, तादात्म्य-प्रतिपत्तितः ॥२८॥

तेन शब्दार्थ चिन्तासु, न साऽवस्था नयः शिवः ।

भोक्तैव भोग्य-भावेन, सदा सर्वत्र संस्थितः ॥२९॥

अर्थ—इस प्रकार यह जीव सर्व मय है। उसी से सारे भावों का उदय होता है तथा वह जितना भी बाहर अनुभूय मान पदार्थ है, वह शरीर के द्वारा ग्रहण करता है और अनुभव का द्वार होकर सम्वेदन-रूप से तादात्म्य-प्राप्त किए हुए है। इसलिए इस प्रकार का सर्वात्म-स्वभाव से 'शब्द' और 'अर्थ' के विचार में उसकी ऐसी कोई अवस्था नहीं है, जो उसके शिव-भाव से व्यक्त न हो। अतः 'भोक्ता' ही 'भोग्य'-भाव से सर्वत्र स्थित है, 'भोग्य' उससे कोई अन्य नहीं है ॥२८-२९॥

विज्ञान के ज्ञान का फल

इति वा यस्य सम्वित्तिः, क्रीडात्वेनाखिलं जगत् ।

स पश्यन् सर्वतो युक्तो, जीवन्मुक्तो न संशयः ॥३०॥

अर्थ—इस प्रकार यह सारा जगत् उसी की सम्विद या चिद्-शक्ति का ही खेल है। जो इस प्रकार सबसे युक्त होकर क्रीड़ा-रूप से देखता है, वह नित्य युक्त होने के कारण ईश्वर के समान मुक्त ही है, उसको शरीर का कोई बन्धन नहीं होता है—यह निश्चय ही सत्य है ॥३०॥

मन्त्र-साधन का रहस्य

अयमेवोदयस्तस्य, ध्येयस्य ध्यायि चेतसि ।

तदात्मता समापत्तिमिच्छतः साधकस्य वा ॥३१॥

अर्थ—इस प्रकार सम्विद् के द्वारा साधक अपने ध्येय को न्यास और मन्त्र के द्वारा चिद् रूप से प्रगट करके उसके साथ तादात्म्य प्राप्त करता है और मन्त्र, देवता तथा साधक की एकात्मकता मन्त्रोच्चारण-काल में ही सम्पादन कर लेता है ॥३१॥

मन्त्र-साधन से प्राप्त फल

इयमेवाऽमृत-प्राप्तिरयमेवाऽऽत्मनो ग्रहः ।
इयं निर्वाण-दीक्षा च, शिव् सद् भाव-दायिनी ॥३२॥

अर्थ—यह साधक को अमृतत्व-प्राप्ति मिथ्या ज्ञान-शून्य निरावरण स्व स्वरूप सम्विद् ही है, जो मन्त्रोच्चारण-मात्र के अभ्यास से आत्म-तत्त्व की प्राप्ति करा देती है। यह कोई स्थूल वस्तु का आदान-प्रदान नहीं है, यह तो गुरु से दीक्षा-काल में ही अमृत-रूप से प्राप्त होती है। इसलिए इसे निर्वाण-दीक्षा कहा है। यह परम शिव के स्वरूप को व्यक्त करनेवाली तथा शिवत्त्व-सद् भाव को देनेवाली दीक्षा है, जिससे साधक स्वयं ही मुक्ति का अनुभव कर लेता है ॥३२॥

॥ इति सहज विद्योदय द्वितीय निष्पन्दः ॥

अथ विभूतिस्पन्द तृतीय निष्पन्द।

जाग्रत् में विभूति-प्राप्ति की योग्यता का रूप

यथेच्छाऽभ्यर्थितो धाता, जाग्रत्यर्थानुहृदि स्थितान् ।
सोम-सूर्योदयं कृत्वा, सम्पादयति देहिनः ॥३३॥

अर्थ—अपने स्वरूप को प्राप्त योगी जब सङ्कल्प-सिद्ध हो जाता है, तो यदि वह अपने हृदयस्थ अर्थों को जाग्रत् में प्रगट करना चाहता है, तब इच्छानुसार धाता-रूप से सोम-सूर्य के आलोक में करता हुआ दर्शनादि इन्द्रियों से इच्छानुसार शरीरों का निर्माण करके इच्छानुसार अर्थों को प्रगट कर लेता है ॥३॥

स्वप्न में

तथा स्वप्नेऽप्यभीष्टार्थानुप्रणयस्यानति क्रमात् ।
नित्यं स्फुट तरं मध्ये, स्थित-वदूयं प्रकाशयेत् ॥३४॥

अर्थ—इसी प्रकार स्वप्न में भी अपने स्वरूप में स्थित रहते हुए ही अपने हृदयस्थ भावों को अपने में ही अनेक रूप से प्रकशित करता है। अर्थात् स्वप्न में भी वह इच्छानुसार सृष्टि करने में समर्थ है, उसे तम का आवरण नहीं होता ॥३४॥

सामान्य मनुष्य और सिद्ध योगी का भेद

अन्यथा तु स्वतन्त्रा स्यात् सृष्टिस्तद्धर्मकत्वतः ।

सततं लौकिकस्येव, जाग्रत स्वप्न-पद-द्वये ॥३५॥

अर्थ—यदि उसे भी तम का आवरण रहे, तो जैसे सुर्व साधारण को आल-बिड़ाल दर्शन-रूप अर्थात् व्यवस्था रहित स्वप्न होता है, उसे भी होगा तथा वह फिर स्वतंत्र रूप से धाता के भाव में स्थित न हो सकेगा और अपने हृदय के भावों या अर्थों को प्रगट न कर सकेगा तथा जैसा लोक में इन 'जाग्रत', और 'स्वप्न' पदों में सबको होता है, उसी प्रकार उसे भी होगा ॥३५॥

साधन की प्रशंसा

यथा ह्यऽर्थोऽस्फुटो दृष्टः, सावधानेऽपि चेतासि ।

भूयः स्फुट तरो भाति, स्व बलोद्योग-भावितः ॥३६॥

तथा यत् परमार्थेन, येन यत्र यदा स्थितम् ।

तत्तथा बलमाकृष्य, न चिरात् सम्प्रवर्तते ॥३७॥

अर्थ—सावधान-चित्त रहने पर भी अर्थों का ज्ञान जैसे 'अस्फुट' रहता है अर्थात् स्पष्ट नहीं होता, परन्तु अपने उद्योग-बल के प्रयत्न द्वारा सब स्पष्ट हो जाता है । जैसे दूर स्थित किन्हीं अर्थों का ज्ञान पुरुष को सावधान रहने पर भी स्पष्ट नहीं होता, तो एक विशेष प्रयत्न से उन अर्थों का ज्ञान पूर्ण स्पष्ट हो जाता है । इसी प्रकार परमार्थ में भी जो वस्तु जहाँ स्थित है अर्थात् जिस देश, काल और आकार मे स्थित होती है, एक विशेष प्रयत्न से अपने पूरे बल का प्रयोग करने पर वह वस्तु अपने उसी स्वरूप के आश्रय से तत्काल ही प्रतिभासित हो जाती है क्योंकि उसका अपना स्वरूप आवरण रहित है तथा उसका अतीत और अनागत ज्ञान परिमित विषय है, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है ॥३६-३७॥

उत्साह से लक्ष्य-प्राप्ति

दुर्बलोऽपि तदाऽऽक्रम्य, यतः कार्यो प्रवर्तते ।
आच्छादयेद् बुभुक्षां च, तथा योऽति-बुभुक्षितः ॥३८॥

अर्थ—उत्साह और प्रयत्न के द्वारा दुर्बल भी आगे बड़ जाता है और साहस से कार्य में प्रवृत्त हो जाता है । अशक्त भी व्यायाम के अभ्यास से महान् शक्ति प्राप्त कर लेता है । इसी प्रकार स्वभाव के अनुशीलन से अर्थात् अनुसरण से भूख भी भूख को आच्छादित कर लेता है । इसी प्रकार सर्बत्र ही आत्मस्वरूप के कार्य-कारण-सम्पादन में वह समर्थ हो जाता है ॥३८॥

सिद्ध योगी की सामर्थ्य

अनेनाधिष्ठिते देहे यथा सर्वज्ञतादयः ।
तथा स्वात्मन्यधिष्ठानात्सर्वत्रैवं भविष्यति ॥३९॥

अर्थ—इसी प्रकार अपने आत्मस्वभाव में स्थित हो जाने पर शरीर में रहते हुए ही वह सर्वज्ञा हो जाता है और सूक्ष्म से जन्तु के आहार-बिहार को जान लेता है तथा सर्वत्र ही व्यापक हो जाता है ॥३९॥

अज्ञान का स्वरूप

ग्लानिर्विलुण्ठिका देहे तस्याश्चाऽज्ञानतः सृतिः ।
तदुन्मेष विलुप्तं चेत् कुतः सास्याद हेतुका ॥४०॥

अर्थ—ग्लानि, क्षय या बीमारी, अर्थात् अपने को आत्मस्वरूप न मानकर अल्प मानना ही ग्लानि या बीमारी है । यह ग्लानि अज्ञान से संसरित होने के कारण शरीर का नाश करती है । यदि आत्मस्वभाव का उन्मेष हो जाय तो अज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती, तथा इस प्रकार ग्लानि का कारण न रहने से ग्लानि उत्पन्न ही नहीं होती है । इसी से योगियों के शरीर में ग्लानि के अभाव हो जाने परशरीर बली पलित न होकर दृढ़ हो जाता है ॥४०॥

सामान्य स्पन्द का प्राप्ति-स्थल

एक चिन्ता प्रसक्तस्ययतः स्यादपरोदयः ।
उन्मेषः सतुविज्ञेयः स्वयं तमुपलक्षयेत् ॥४१॥

अर्थ—एक विचार के चिन्तन काल में जब दूसरे विचार का तत्काल उदय हो जाता है तो उसका कारण उन्मेष होता है, अर्थात् दो विचारों के मध्य में जो अनुभव होनेवाला भाव है, उसे ही उन्मेष कहते हैं ॥४१॥

अतोबिन्दुरतो नादो रूपमस्मादतो रसः ।
प्रवर्तते चिरेणैव क्षोभकत्वेन देहिनः ॥४२॥

अर्थ—इस उन्मेष के अनुशीलन से तेज रूप बिन्दु में नाद का उदय होकर अन्धकार में शब्द वाच्य प्रणव का दर्शन हो जाता है, उससे अमृतरस का स्वाद मुख में आ जाता है और इस क्षोभ के कारण तत्काल ही रस प्रवाहित हो जाता है ॥४२॥

स्पन्द के अभ्यास का फल

दिदृक्षयेव सर्वार्थान्यदा व्याप्यावतिष्ठते ।
तदा किं बहुनोक्तेन स्वयमेवाव भोत्स्यते ॥४३॥

अर्थ—देखने की इच्छा के भाव में स्थित होकर जब हम व्यापक होकर सारे भावों में स्थित हो जाते हैं, तब बहुत क्या कहा जाय, हम स्वयं ही तत्त्व स्वभाव से सब कुछ जान लेते हैं, अर्थात् ज्ञान स्वरूप हो जाते हैं ॥४३॥

बौद्धिक ज्ञान से पीड़ा मुक्त

प्रबुद्धः सर्वदातिष्ठेज्ज्ञानेनालोक्य गोचरम् ।
एकत्राऽऽरोपयेत् सर्वं ततोऽन्येन न पीड्यते ॥४४॥

श्लोक—प्रबुद्ध होकर वह सर्वदा के लिये ज्ञान रूप से स्थित होकर सारे विषयों की आलोचना करता है तथा सबको ज्ञान में ही विद्या रूप से आरोपित जानकर

सद्भाव तत्त्व में स्थित होने से अन्य-अन्य भाव की पीड़ा से रहित हो जाता है और जिसे कला समुदाय कहते हैं उससे उसे कोई कष्ट अनुभव नहीं होता है ॥४४॥

मनुष्य की आशक्ति का कारण ही यह मातृका वर्ग का रूप

शब्दराशि समुत्थस्य शक्तिवर्गस्य भोग्यताम् ।
कला विलुप्त विभवोगतः सन्सपशुः स्मृतः ॥४५॥

अर्थ—अकार से क्षकार पर्यन्त जो शब्द समूह है उसी से उत्पन्न यह कादिवर्गात्मक भूत समुदाय है। यही शक्ति समूह बाह्य भोग्य का स्वरूप है। इस भोग्य समुदाय रूप शक्ति के वशीभूत पुरुष ककरादि अक्षरों की कलाओं में विलुप्त होकर अपनी महत्ता खोकर स्वभाव से च्युत हो जाता है और शिवत्व से पशुत्व भाव को प्राप्त हो जाता है ॥४५॥

उसका परिणाम

परामृत रसापायस्तस्य यः प्रत्ययोद्भवः ।
तेनाऽस्वतन्त्रतामेति स च तन्मात्र गोचरः ॥४६॥

अर्थ—परा अमृत रस से दूर हो जाने पर जिस प्रत्यय का उदय होता है, उससे पुरुष बन्धन कारक तन्मात्राओं का अनुभव करता है और परतन्त्र होकर अल्पाहंता भाव से स्थित हो जाता है । इस प्रत्यय से रूपादि अभिलाषा वाली तन्मात्राओं का अनुभव होता है जिससे पुरुष अपने स्वरूप का अनुभव नहीं कर पाता है ॥४६॥

स्वरूपावरणेचास्य शक्तयः सततोद्यताः ।
यतः शब्दानुबेधेन न विना प्रत्ययोद्भवः ॥४७॥

अर्थ—उसके स्वरूप के आवृत हो जाने पर उससे बाह्य रूप से सतत् ही शक्ति का उदय होने लगता है। इसी से उस शब्दरहित ज्ञान का उदय नहीं होता है तथा शब्द के बेध किये बिना उस ज्ञान का उदय नहीं होता है ॥४७॥

क्रिया या स्पन्द स्वरूप

सेयं क्रियात्मिका शक्ति शिवस्य पशुवर्तिनी ।
बन्धयित्री स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्धयुपपादिका ॥४८॥

अर्थ—यह पशु भाव से वर्तने वाली शक्ति ही भगवान् का क्रियात्मक स्वभाव है। यह स्वभाव से ही बन्धन का कारण है अथवा अज्ञात रहने पर बन्धन का कारण है, तथा ज्ञात होने पर परात्पर सिद्धिप्रद है। शिव की शक्ति ही परा और अपरा भावों में विद्यमान है जिनमें जीव-शक्ति प्रवर्तित नहीं होती है। तथा इन परा और अपरा भावों में जो शिव शक्ति रूप से व्यापक है उसका कोई अधिष्ठान नहीं है, अर्थात् जीव-शक्ति से उसका स्वरूप स्वतन्त्र है। इसलिये वह अज्ञात रहने के कारण बन्ध का हेतु है, ज्ञात होने पर परात्पर सिद्धिप्रद है ॥४८॥

बन्धन का कारण

तन्मात्रोदयरूपेण मनोहम्बुद्धिवर्तिनी ।
पुर्यष्टकेन संरुद्धस्तदुत्थ प्रत्यययोद्भवम् ॥४९॥
भुङ्क्ेपरवशो भोगं तद् भावात्संसरेदतः ।
संसृति-प्रलयस्याऽस्य कारणं स प्रचक्ष्महे ॥५०॥

अर्थ—शब्दादि तन्मात्राओं का अनुभव रूप से उदय होने पर मन, अहंकार; बुद्धि का उदय होकर वह पुरुष पराविमर्श से उत्पन्न पुर्यष्टक (पंच प्राण, मन, बुद्धि अहंकार) से बद्ध हो जाता है, जिससे सुख-दुःख संवेदन रूप भोगों को भोगता है और उसका पुर्यष्टक संसार में शरीर रूप से संसरण करता है और इस संसरण में वह संसृति प्रलय के जन्म-मरण प्रवाह रूप में संसार के विनाश के कारण को देखत है और कहता है ॥४९-५०॥

बन्धन मुक्त शिव रूपता का भाव

पदात्वेकत्व संरुढस्तदा तस्य लयोद्भवौ ।
नियच्छन्भोक्तृ तामेति ततश्चक्रेश्वरो भवेत् ॥५१॥

अर्थ–परन्तु स्थूल और सूक्ष्म में लीन चित्त जब एकत्त्व भाव में आरुढ़ हो जाता है तो उसके उस उदय और लय भाव के नष्ट हो जाने पर वह पुरुष भोक्ता भाव को प्राप्त हो जाता है और तब वह चक्रेश्वर होकर सबका अधिपति हो जाता है ।।५१।।

गुरु वन्दना

अगाधसंशयाम्भोधि समुत्तरण तारणीम् ।
बन्दे विचित्रार्थपदां चित्रांतां गुरु भारतीम् ।।५२।।

अर्थ–जो अगाध संशय रूप सागर है उससे तारने वाली नौका रूप जो गुरु भारती है उसकी हम वन्दना करते हैं वह विचित्रार्थ पदों से चित्रित स्वरूप है ।।५२।।

●



मुद्रक : नारायण प्रिन्टर्स, खजान्ची रोड, पटना-4 फोन : (0612) 657704